श्रीमद्विजयानन्द सूरिचरणकमलेभ्यो नमः

श्री आत्मानन्द-द्वासप्ततिः

(एक माला बन्ध काव्य के ७२ अर्थ)

कर्त्ता

स्वामी योगजीवानन्द सरस्वती

११३४

टीका कर्त्ता

श्रीमान् पण्डित बैजनाथ शर्मा, शास्त्री व भिषगाचार्य,

जिसे

बाबू जसवन्तराय जैनी, देहली

द्वारा

शहर अम्बाला के सद्गत लाला लालचन्दजी
जैन की धर्मपत्नी

सद्गत श्रीमती द्रौपदी बाई फण्ड के
ट्रस्टियों ने छपवाया

विक्रम स० १९९७ } प्रथमावृत्ति १००० { वीर सम्वत् २४६७
ईस्वी सन् १९४० } मूल्य ।) { आत्म सम्वत् ४५

प्रकाशक,
ट्रस्टी श्रीमती द्रौपदी बाई फण्ड,
अम्बाला ।

पुस्तक मिलने का पता:—

बा० जशवन्तराय जैनी,

कटरा मशरू, दरीबा कलां

दिल्ली ।

मुद्रक,
एम. एन. ठुलल,
फेडरल ट्रेड प्रेस,
नया बाज़ार, दिल्ली

श्रीमद्विजयानन्द सूरिजी (आत्मारामजी) महाराज के
पट्टधर श्रीमद्विजयवल्लभ सूरिजी महाराज
जन्म वि० सं० १९२७ बड़ौदा ।

॥ समर्पण ॥

श्री १००८ श्रीमान् तपागच्छाधिपति

पट्टप्रतिष्ठित जैनाचार्य

श्री विजयवल्लभ सूरि जी महाराज

के कर कमलों में

महामुनि सूरि श्री १००८ श्री आत्मारामजी

की

यह चारुचरितावली भक्तिभाव

से

सादर समर्पित

बैजनाथ शर्मा शास्त्री

अशुद्धशुद्धि पत्र

पृष्ट	पङ्क्ति	अशुद्धशब्दा:	शुद्धशब्दा:
२	१०	सिद्वेः	सिद्धेः
३	८	प्रकीर्त्तिताः	प्रकीर्त्तितः
५	१५	त्क एतदेव	त्कः"—एतदेव
७	१	गुजर', इत्यद	गुज़र" इत्युद
७	१६	धनुष्यतः	धनुष्मतः
६	४	णाऽऽध्ययन	णाऽध्ययन
१०	१०	प्रभत्र कियाः	प्रभव क्रिया
१०	१४	मरणादि	मरणादि
११	२	श्रीमद्भागव	श्रीमद्भगव
१३	१२	मालाऽऽक्रुते—	मालाऽऽक्रुते
१४	१६	प्रकुऽन्येवमेव	प्रकृतेऽप्येवमेव
१५	१३	संस्कराद्विज	संस्काराद् द्विज
१६	१	पदेशेनएव	पदेशेन त एव
१६	१८	युगधर्मनुश्रित्य	युगधर्ममनुश्रित्य
१८	५	शारीरिक उदासीनता की चिन्ता)	शरीर की चिन्ता
२१	४	तापऽनुवृत्या	तापाऽनुवृत्या
२३	५	सहितस्य हि	सहि--तस्यहि
२४	१२	प्रचार वान्नित्यर्थः	प्रचर वानित्यर्थः
२८	२०	दीर्घकरान्तो	दीर्घऋकारान्तो
२६	६	चिक्ये नावजित	चिक्येनावार्जित
३४	१४	ओं-रत्तणक्केदारौः	ओ-रत्तणक्केदारौ
४१	२	त्वत्तः पूवमाप	त्वत्तःपूर्वमपि
४३	११	त्येव ञ्छीलः	त्येवं शीलः
४५	६	यथेन्द्रोः	यथेन्दोः

८३	२	प्रवर्षयिष्यत्यत्याद्या-,	प्रवर्त्तयिष्यतीत्याद्या-
१०२	५	अथैकञ्जाशत्तमोर्थः,	अथैकपञ्चाशत्तमोऽर्थः
१०३	१०	पूर्णार्थ	पूरणार्थ
१०४	१७	तन्त्रेणेव	तन्त्रेणैव
१०५	१३	दशोत्तरत्रिणवति	दशशतोत्तरत्रिणवति
१०६	४	अतश्चतुष्टयत्वम्,	अतश्चतुष्ट्वम्
१०६	१७	नचादि	नचत्रादि
१११	८	घटिकास्त्रति,	घटिकास्विति
११२	१२	नाम्नीत एव,	नाम्नी+इत एव
११२	१२	ज्ञायते	ज्ञायेते
११६	१३	चन्द्रिकेऽधीते,	चन्द्रिके अधीते,
१२६	१७	दायादेष्वेष,	दायादेष्वेव
१२६	५	कर्मकर्त्तारि	कर्मकर्त्तारो
१३०	११	विख्यानदाता	व्याख्यानदाता
१३२	१	ध्वनितम्	ध्वनितः
१३४	७	वाले जो कामदेव शिवजी महाराज	वाले शिवजी महाराज का शत्रु भी कामदेव ही हुआ
१३५	१	निग्रकोटयाँ	निग्रह्कोट्याँ
१३५	१५	ततोऽशिष्ट	ततोऽवशिष्ट
१३७	४	सप्रार्थितो	संप्रार्थितो

पंजाब देशोद्धारक न्यायांभोनिधि जैनाचार्य १००८ श्री मद् विजयानंद सूरीश्वर जी महाराज के परम भक्त स्वर्गीय

बाबू जसवंत राय जी जैनी

जन्मः—
होशियारपुर (पंजाब) वि० सम्वत् १९२८ चैत्र सुदी ६।

स्वर्गवासः—
देहली वि० सम्वत १९९८ सावन बदी १३।

आपने अपनी सारी जिन्दगी में गुरु देव तथा जैन समाज की सेवा में अपनी जिन्दगी का अधिक से अधिक समय देते हुये श्री आत्मानन्द जैन सभा के मंत्री का काम करते हुये श्री आत्मानन्द जैन पत्रिका का संपादन किया। कितने ही ग्रन्थ और ट्रैक्ट प्रकाशित किये। श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल तथा हस्तिनापुर तीर्थ के आखीर तक आडीटर रहे। अंत में इस ग्रन्थ को प्रकट करके और बम्बई में श्री आत्मानन्द जैन सभा स्थापन कराके देहली में अचानक हार्ट फेल होने से परलोक पधार गये।

आपका लघु पुत्र "धर्म"

सद्धर्मोद्धारक विश्व-विख्यात न्यायांभोनिधि—

"जैनाचार्य्य श्री १००८ श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी।"

Caslon Printing Works, Delhi.

(श्री आत्माराम जी महाराज)

प्रस्तावना

जीवों के आवागमन रूप यह जगत्—संसार अनादि अनंत है। अनादि काल से प्रभाह रूप चला आया है और चला जायगा, न आदि है, न अन्त होगा, यह है जैनधर्म का मुख्य सिद्धान्त। परन्तु कई लोगों के मन में जगत् अनादि होने में शंका रहती है। इस शंका को निवारण करने के लिए अनेक युक्ति प्रमाणों की आवश्यकता है। परन्तु स्थान संकुचितता के कारण केवल एक पाश्चात्य विद्वान् की साक्षी ही पर्याप्त होगी, क्योंकि पाश्चात्य व्यक्तियों के कथन पर प्रायः लोगों को शीघ्रतर विश्वास आता है। कहा भी है कि "घर का जोगी जोगड़ा, बाहर का जोगी सिद्ध"। देखिये, डाक्टर वेल साहिब ने दुनिया का इतिहास लिखा है। उसका हिन्दी अनुवाद भी पुस्तकाकार छपा है। उसमें से जगत अनादि होने के सम्बन्ध का लेख यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया जाता है—

"यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि जिस विश्व में हम रहते हैं, वह युग-युगान्तरों से और संभवतः अनादिकाल से ऐसा ही चला आता है, विश्व को छै या सात हजार वर्ष का पुराना मानने का सिद्धान्त अब सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुका है।"

मित्रो ! यद्यपि यह एक ही प्रमाण जगत् की अनादि सिद्धि में प्रबल प्रमाण है, तथापि और प्रमाण देने का प्रयत्न इसी लेख के अन्तर्गत किया जावेगा। जैन-धर्म प्राचीन-से-प्राचीन स्वतन्त्र आस्तिक आर्य धर्म है। तो भी इसे नास्तिक धर्म कहनेवाले अनेक लोग विद्यमान हैं। यह सब उन लोगों की कल्पना अल्पज्ञता का चिह्न है। वास्तव में वह आस्तिक नास्तिक के भेद को जानते ही नहीं। इस विषय पर बड़ी लम्बी-चौड़ी चर्चा है, जो यहाँ नहीं लिखी जा सकती, और नांही उसके लिखे जाने का प्रसंग और आवश्यकता। जो लोग इस विषय की चर्चा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाषी हों, वह विविध प्रकार के जैनग्रन्थों से वा जैनतत्वादर्श, तत्वनिर्णयप्रासाद और अज्ञानतिमिरभास्कर आदि हिन्दी पुस्तकें श्रद्धापूर्वक निष्पक्ष बुद्धि से अध्ययन करें तो उनको स्वतः मालूम हो जायगा कि नास्तिक वह है, जो ईश्वर को न माने, आत्मा को न माने, पुण्य, पाप, जीवन, मरण, परलोक, नरक, स्वर्गादि यावत्-मुक्ति न माने। जैनधर्म इन सबका प्रतिपादक और पोषक है। अतः जैनधर्म को नास्तिक धर्म कथन करना सरासर जैनधर्म पर मिथ्यारोप लगा कर साम्प्रदायिक वैरभाव की अग्नि भीतर-ही-भीतर ज्वलन्त रखना है। जैनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर अनादि अस्ति रूप है। पुण्य-पापादि स्वकृत्यों की परवशता से जीव नरक स्वर्गादि गतियों में जन्ममरण धारण करता है और तप जपादि सत्कृत्य करके कर्ममल से रहित हो जीव अव्याबाध मुक्ति को प्राप्त हो सकता है। अतः जैनधर्म आस्तिक

०, स्वतन्त्र धर्म है, किसी की शाखा नहीं। देखिये, श्री वरदाकांत मुख्योपाध्याय एम० ए० बङ्गाल लिखते हैं कि—**"जैनधर्म हिन्दुधर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है, उसकी शाखा वा रूपान्तर नहीं है। पार्श्वनाथजी जैनधर्म का आदि प्रचारक नहीं था, परन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेवजी ने किया था"** लीजिये एक और प्रबल प्रमाण—श्रीयुत् तुकारामकृष्ण शर्मा भट्ट बी० ए० पी० एच० डी० एम० आर० ए० एस० एम० ए० एस० बी० एम० जी० ओ० एस० प्रोफेसर संस्कृत शिलालेखादिक विषयों के अध्यापक क्वीन्स कालेज बनारस के दशम वार्षिकोत्सव पर दिये व्याख्यान में कहते हैं कि—**"सबसे पहिले इस भारतवर्ष में ऋषभदेव नाम के महर्षि उत्पन्न हुए, वे दयावान, भद्रपरिणामी पहले तीर्थंकर हुए"**। इति जैनधर्म की स्वतन्त्र सिद्धि।

इतने प्रबल प्रमाण होने पर भी जो लोग जैनधर्म को बौद्ध धर्म से निकला वा बौद्धधर्म की शाखा मानते हैं, वह सर्वथा अपनी अल्पज्ञता और मूर्खता का परिचय देते हैं। यह विषय भी बड़ा चर्चास्पद है, इस पर केवल कुछ विद्वानों के उद्गार प्रकट करना पर्याप्त होगा। श्रीयुत अम्बजाक्ष सरकार एम० ए० बी० एल० "जैनदर्शन जैनधर्म" में लिखते हैं कि—**"यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म**

बौद्ध-धर्म की शाखा नहीं है।"

श्रीयुत वासुदेव नरहर उपाध्याय बड़ोदा (Baroda) मराठीशाला नं० १ हेडमास्टर कहते हैं कि **"जैनधर्म बौद्धधर्म से निकला हुवा नहीं, उसका उद्भव स्वतंत्र होने से उसने बौद्धधर्म से कुछ लिया भी नहीं॥"**

सर्वतंत्रस्वतन्त्र सत्सम्प्रदायाचार्य स्वामी राममिश्र शास्त्री जी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि—**"जैनमत सृष्टि की आदि से बराबर अविछिन्न चला आया है, जैनमत से बौद्ध सिद्धान्त का जमीन आसमान का अंतर है॥"** इत्यादि अनेक प्रमाणों से जैनधर्म की प्राचीनता, जगत का अनादि होना और जैनधर्म की स्वतंत्र अनादि सिद्धि का किंचिद्स्वरूप प्रसंगवश कथनकर, अब हम जैन-धर्म के अवतारों के सम्बन्ध में कुछ दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं। जैसे वैदिकधर्म सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलयुग काल के भाग मानता है, वैसे जैनधर्म भी अवसर्प्पिणी, उत्सर्प्पिणीरूप काल के दो भागों के छै २ विभाग मानता है। दोनों भागों के तीसरे चौथे विभाग में जैनधर्म के अवतार—प्रणेता होते हैं, जिन्हें जैन प्रायः तीर्थंकर नाम से उच्चारण करते हैं। यह महान् पुरुष जीवनमुक्तात्मा, पूर्ण ब्रह्मज्ञानी, त्रिकालदर्शी संख्या में चौबीस होते हैं। अवसर्प्पिणीकाल के तीसरे विभाग में जब तीन वर्ष साढ़े आठ महीने बाकी थे, श्री नाभीराजा की

धर्मपत्नी श्रीमती मरुदेवी की कूख से प्रथम तीर्थंकर जन्मे। जिनका नाम श्री ऋषभदेव जी प्रसिद्ध हुआ, और जिनका भारतवर्ष में सबसे प्रथम महर्षि होना श्रीयुत तुकाराम कृष्ण के लेख से ऊपर सिद्ध कर आये हैं।

आज से २५३८ वर्ष पहले २४ वें अंतिम तीर्थंकर श्रीमान् महावीर भगवान् क्षत्रीकुंड नाम नगर में राजा सिद्धार्थ की धर्मपत्नी श्रीमती त्रिशलादेवी की कूख से जन्मे और ३० वर्ष पर्यन्त गृहवास के पीछे मुनिदीक्षा धारणकर, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्म शुभाशुभम्" इस नीति के अनुसार घोर तपस्या कर घाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान—ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर और अनेक जीवों के उपकार के लिये मुक्ति के सत्यमार्ग का उपदेश देकर आज से २४६६ वर्ष पहले पावापुरी में जन्म मरणादि दुःखों से रहित हो, सच्चिदानंद अनन्त सुखमय मुक्तावस्था को प्राप्त हुए।

श्री महावीर भगवान् के निर्वाण से २५० वर्ष पहले २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर मोक्ष गये। इनकी जन्म नगरी बनारस, पिता का नाम राजा अश्वसेन, माता का नाम श्रीमती वामादेवी था।

श्री पार्श्वनाथ भगवान् के निर्वाण से ८३७५० वर्ष पहले २२ वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ भगवान् जो श्रीकृष्ण महाराज के चचेरे भाई थे, एक हज़ार वर्ष का आयुष्यपूर्ण कर निर्वाणपद (मुक्ति) को प्राप्त हुए। इनका जन्म नगर शोरीपुर, पिता राजा

समुद्रविजय, माता श्रीमती शिवादेवी थीं।

इसी प्रकार पूर्वभूत २१ तीर्थंकरों का अंतरमान आदि का संपूर्ण वर्णन श्रीकल्पसूत्रादि ग्रंथों में लिखा है, वा जैन तत्वादर्श से देख लेवे। यहाँ हम केवल उनका संयुक्त काल प्रमाण ही लिख देते हैं, जो एक कोटा कोटी सागरोपम से १२६००३ वर्ष साढ़े आठ महीना कम है। जैनधर्म का स्वरूप बड़ा गहरा समुद्र है, कौन पार पा सकता है, मैं तो केवल जैनधर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन ही कराने की चेष्टा कर रहा हूँ।

अब मैं यह प्रकट करना चाहता हूं कि श्रीमन्महावीर भगवान् के पीछे आज तक अर्थात् लगभग ढाई हजार वर्ष के भीतर कौन २ प्रभावक, प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित, परमपूज्य, जैनधर्म-रक्षक और जैनसाहित्यप्रवर्द्धक ऋषि, मुनि, सन्त, महन्त होते रहे हैं और हमारी आंखों के सामने बीसवीं सदी के एक देदीप्यमान सूर्य समान महान् व्यक्ति मुनिराज न्यायांभोनिधि जैनचार्य श्रीमद्विजयानन्द सूरिसम्राट् प्रसिद्ध नाम श्री आत्माराम जी महाराज कैसे प्रभावशाली और शक्तिशाली हो गये हैं।

श्री मन्महावीर भगवान् के पीछे अनेक जैनधर्म के धोरी, लब्धिधारी, शास्त्रपारगामी, विजयपताकाधारी, राजामहाराजाओं के प्रतिबोधक, गीतीर्थ मुनिपुंगव हो गये हैं। सबके चारित्र लिखने का न यहां प्रयोजन है, न मेरी शक्ति और न सामग्री। केवल इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि श्री महावीर भगवान् के हस्तदीक्षित ब्राह्मणकुलोत्पन्न वेदपाठी इंद्रभूति, वायुभूति,

अग्निभूति, सुधर्मा स्वामी प्रमुख ११ गणधर विद्वत्शिरोमणि जैनशासन के महारथी हुए। इनके पीछे दशवैकालिक सूत्र के कर्त्ता **आर्य श्रीशय्यंभव** और निर्युक्तिकारक **श्रीभद्रबाहुस्वामी** पंचम श्रुतकेवली परम विख्यात हुए हैं।

श्रीसिद्धसेनदिवाकर—परमकाव्य कुशल और शक्तिशाली, 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र महाकाव्य के पाठ से श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति पृथ्वीतल से प्रकट करनेवाले महाराजाधिराज विक्रम के समय में हुए। सर्वोच्चकोटि का **'सम्मति तर्क'** नाम शास्त्र रचकर जैनन्यायशास्त्र की प्रगति की है।

श्रीमल्लवादी—राजा शिलादित्य के राज्य में बौद्धों को पराजय कर जयपताका प्राप्त करनेवाले!

श्रीमानतुंगाचार्य—श्री आदीश्वर भगवान् की 'भक्तामर' काव्यों द्वारा स्तुति कर निगड़ बन्धनों से निर्मुक्त हो जैनशासन की महिमा करनेवाले, भयहर स्तोत्रकर्त्ता।

श्रीअभयदेवसूरि—नवअंगटीकाकार और जयतिहूयण स्तोत्रकर्त्ता।

श्रीवादिदेवसूरि—स्त्रीनिर्वाणसिद्ध करके दिगंबराचार्य श्री कुमुदचन्द्र पर विजय पानेवाले।

कालिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य—गुर्जर नरेश श्री कुमारपाल प्रबोधक, योगशास्त्र, त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र, व्याकरण, न्याय, काव्य, अलंकार, छंद, ज्योतिष, कोश आदि प्रायः सब विषयों के अनेक अमोलक ग्रन्थ साढ़े तीन करोड़

श्लोक प्रमाण साहित्य के रचनेवाले।

श्रीहरिभद्रसूरि—महान्प्रभावक आचार्य, १४४४ ग्रंथों के रचने वाले, आवश्यकसूत्र दशवैकालिकसूत्रादि की टीका और शास्त्रवार्त्तासमुच्चय आदि के कर्त्ता।

श्रीविजयहीरसूरि—मुगल सम्राट् अकबर को प्रतिबोध दे कर हिंसा छुड़ाने वाले, जैनतीर्थों की रक्षा और यात्रिओं से कर (TAX) न लेने के फरमान प्राप्त करने वाले महान् प्रतापी !

शास्त्रविशारद श्रीयशोविजयजी उपाध्याय—काशी में विद्वत्शिरोमणि ब्राह्मणों से सत्कार प्राप्त करनेवाले, अद्भुत स्मरणशक्तिशाली, अनेक न्यायग्रन्थों के रचनेवाले।

न्यायांभोनिधि श्रीविजयानन्दसूरि—यह महात्मा बीसवीं सदी के परमप्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। यहाँ इनके चरित्र के संबन्ध में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता है, जो हम नीचे लिखते हैं:—

श्रीमद्विजयानन्दसूरि (श्री आत्मारामजी महाराज)

यह महात्मा भारत उपरान्त पाश्चात्य देशों में भी सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। इनकी जीवनकथा बड़ी मनोहर घटनापरिपूर्ण, शिक्षाप्रद और पढ़ने योग्य है। जिनके संपूर्ण लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं, क्योंकि हिन्दी, गुजराती, उर्दू भाषाओं में नये-नये ढंग के लिखे हुए कई जीवनचरित्र विद्यमान हैं। यहां तो केवल संक्षेप से इतना ही दिखलाना है कि वह कौन थे, कब हुए, जैनधर्म में कैसे आये और इस **"आत्मानन्द द्वासप्तति"** पुस्तक की रचना क्यों, कब, किसने, कैसे और किसके लिए की ?।

श्री आत्मारामजी महाराज का शुभजन्म विक्रमसम्वत् १८६४ (गुजराती १८६३) महा मंगलकारी चैत्र शुदी १ के दिन श्रीमान् गणेशचन्द कपूर क्षत्रिय कुल में श्रीमती रूपादेवी माता की कूख से जीरा (जिला फीरोजपुर, पंजाब) के पास **लहरा** गांव में हुआ। इनके पिता के परम मित्र लाला जोधामल ओसवाल जीरा में एक प्रतिष्ठित और ऋद्धिबृद्धिसम्पन्न श्रावक रहते थे। व्यावहारिक शिक्षण के लिये इनके पिता ने इस बालक को छोटी ही अवस्था में लाला जोधामल के पास छोड़ दिया। जिन्होंने अपने पुत्रों के समान इनका पालन पोषण किया। समय समय पर ढूंडिये साधुओं का जीरा में आगमन हुआ करता था। लाला जोधामल आदि की संगति से यह भी उन साधुओं के पास जाने लगे, पढ़ने लगे, समयान्तर में इन्हीं ढूंडियें साधुओं का चेला बनने की प्रबल इच्छा प्रकट की, माता का विरोध होने पर उसे समझा बुझाकर सम्वत् १९१० (अनुमान १६ वर्ष की चढ़ती युवावस्था) में श्री जीवनमलजी ढूंडिये साधु के चेले बने।

ढूंडियों की सम्प्रदाय के माने ३२ शास्त्रों का पूर्ण अध्ययन करने के पीछे सूत्रों के अर्थों की तुलना करने पर इन्हें ढूंडियों के बताये और व्याकरण द्वारा किये अर्थों में बड़ा अन्तर मालूम होने लगा क्योंकि व्याकरण ही शास्त्रों के भण्डार की तालिका है। उक्तंच—

यद्यपि बहु नाधीषे तदपि पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥

अपने गुरु तथा उस समय के मुख्य २ ढूंडिये साधुओं को कहा कि जैनशास्त्रों से मन्दिर, प्रतिमा पूजादि सिद्ध होते हैं। मुँहपत्ति में डोरा डालकर दिन रात मुँह बांधे रखना कहीं नहीं लिखा, शुचिनिमित्त रात्रि को तुम पानी क्यों नहीं रखते, इत्यादि अनेक शंकाओं का समाधान तो किसी ने क्या करना था, प्रत्युत अपने टोले से बाहर निकाल देने और आहार पानी न देने की धमकियाँ देनी शुरू कर दीं। इनकी तो नस-नस में क्षात्रधर्म का रक्त और सत्य की परीक्षा करने का जोश भरा था। विघ्नों की परवाह न करके अपने संकल्प में दृढ़ रहे—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ।

इस न्याय के अनुसार ढूँडियों के वेष में ही रहकर अपनी धारणा के साधु और गृहस्थी श्रावक बनाने शुरू कर दिये। कई वर्ष अपने संकल्प की सिद्धि में लगा कर पीछे ढूंडियों के साधु बिशनचंद, चंपालाल, सलामतराय, निहालचंद आदि कई साधु और पंजाब के प्रायः सब शहरों के मुख्य-मुख्य प्रतिष्ठित और धनाढ्य गृहस्थों को मूर्तिपूजा आदि जैनधर्म का असली मन्तव्य समझाकर सत्यप्रचार रूप अपने परिश्रम में कृतकृत्य हुए और लुप्तप्रायः असली जैनधर्म का प्रकाश दिखला कर हजारों मनुष्यों को सन्मार्ग में लगा करके महान् उपकार किया, यह है श्री आत्मारामजी महाराज का क्रांतिकारी कार्य।

पंजाब से बिहार कर मार्ग में अनेक आपत्तियां, कष्ट और

विरोधियों के उपद्रव सहन करते करते मारवाड़ आदि देशों में सत्य जैनधर्म का प्रचार करते हुए आप अहमदाबाद (गुजरात) में पहुँचे। यहाँ सब सम्प्रदायों के साधुओं से सत्य की तलाश में मिलते रहे, अविछिन्न परंपरागत श्रीमद् बुद्धिविजय जी गणी के दर्शन कर जो बड़े वैरागी और साधुगुणसम्पन्न थे, बहुत प्रसन्न हुए और इनके ही पास मूर्तिपूजक संवेगमत की दीक्षा अपने सहचारी ढूँढिये साधुओं के साथ अंगीकार की। गुरू बुद्धिविजयजी ने आपका नाम **आनन्दविजय** रक्खा और बिशनचंद आदि के नाम श्रीलक्ष्मीविजय जी आदि रक्खे। कालान्तर में देशदेशान्तर में परिभ्रमण कर श्रीसिद्धाचल आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की। स्वमत-परमत शास्त्रों के पारंगत बड़े भारी विद्वान् प्रसिद्ध हुए। अपनी मनोहरवाणी द्वारा पीयूषधारा—व्याख्यान से जनसमूह को तृप्त करते रहे।

आपके बुद्धिवैभव और मनोयोग की तुलना करनेवाला अन्य कोई समाज में न देखकर भारत के समस्त श्रीसंघने एक विचार होकर हजारों जैनों के समक्ष श्रीसिद्धाचल तीर्थ की छाया में पालीताना नगर में आपको संवत १९४३ मंगसिरवदि पंचमी को **न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि** नाम से उद्घोषित किया। आपकी व्याख्यान शैली अद्भुत थी, सुनने वाले ही जानते हैं। आपके दर्शन करनेवाले, आपकी अमृतमयवाणी पान करके और धर्मतत्वों का स्वरूप श्रवण करके अत्यंत ही आनंद-मग्न हो जाते थे। सर्वगुणसम्पन्न इन महात्माने जैनतत्वादर्श,

अज्ञानतिमिरभास्कर, तत्वनिर्णयप्रासाद आदि कई ग्रन्थ हिन्दी भाषा में रचकर हिन्दी जाननेवालों पर असीम उपकार किया है। जिन्हें मारवाड़ी, गुजराती, पंजाबी, पूर्वी आदि अनेक लोग पढ़कर बहुत लाभ प्राप्त कर रहे हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् डाक्टर रूडल्फ़हार्नल ने इनके रचे ग्रन्थों की और इनकी प्रशंसा में जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, वह इसी पुस्तक 'श्री आत्मानंद द्वासप्तति' के फुटनोट में छपे हैं, देखो पृष्ट १२६ से १३२॥

इतना ही नहीं, अन्य अनेक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, यहाँ केवल एक सन्यासी महात्मा का अभिप्राय लिख करके यह विषय यहाँ ही समाप्त करते हैं, वह है—वेदमतानुयायी, पंडितराज, राजामहाराजाओं की सभाओं में जयपताकाधारी, योगजीवानंद स्वामी परमहंस सन्यासी साधु, इन्होंने इन महात्मा के रचे जैनतत्वादर्श और अज्ञान-तिमिरभास्कर ग्रंथों को पढ़कर श्री आत्मारामजी महाराज के नाम एक पत्र लिखा था, जो हम यहाँ सम्पूर्ण उद्‌धृत करते हैं—

स्वस्ति श्रीमज्जैनेंद्र चरण कमल मधुपायितमनस्क श्रील श्रीयुक्त परिव्राजकाचार्य परमधर्मप्रतिपालक श्री आत्माराम जी तपगच्छीय श्रीन्मुनिराज, बुद्धिविजय शिष्य श्रीमुख जी को परिव्राजक योगजीवानन्द स्वामी परमहंस का प्रदक्षिणात्रय-पूर्वक क्षमाप्रार्थनमेतत् ॥ भगवन् व्याकरणादि नाना शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन द्वारा वेदमत गले में बांध मैं अनेक राजा प्रजा के सभाविजय करे देखा व्यर्थ मगज मारना है। इतना ही फल

साधनांश होता है कि राजे लोग जानते समझते हैं फलाना पुरुष बड़ा भारी विद्वान है परन्तु आत्मा को क्या लाभ हो सकता देखा तो कुछ भी नहीं। आज प्रसंगवस रेलगाड़ी से उतर के बठिंडा राधाकृष्णमंदिर में बहुत दूर से आन के डेरा किया था सो एक जैनशिष्य के हाथ दो पुस्तक देखे तो जो लोग (दो चार अच्छे विद्वान जो मुझसे मिलने आये) कहने लगे कि यह नास्तिक (जैन) ग्रंथ है इसे नहीं देखना चाहिए अंत उनका मूर्खपणा उनके गले उतार के निरपेक्ष बुद्धि के द्वारा विचारपूर्वक जो देखा तो वो लेख इतना सत्य वो निष्पक्षपाती लेख मुझे देख पड़ा कि मानो एक जगत् छोड़ के दूसरे जगत् में आन खड़े हो गये ओ आबाल्यकाल आज ७० वर्ष से जो कुछ अध्ययन करा वो वैदिक धर्म बांधे फिरा सो व्यर्थसा मालूम होने लगा जैनतत्वादर्श वो अज्ञानतिमिरभास्कर इन दोनो ग्रंथों को तमाम रात्रि दिव मनन करता बैठा, वो ग्रंथकार की प्रशंसा बखानता बठिंन्डे में बैठा हूँ। सेतुबन्ध रामेश्वर यात्रासे अब मैं नैपाल देश चला हूं परन्तु अब मेरी ऐसी असामान्य महती इच्छा मुझे सता रही है कि किसी प्रकार से भी एक बार आपका मेरा समागम वो परस्पर संदर्शन हो जावे तो मैं कृतकर्म्मा हो जाऊं॥ महात्मन् हम सन्यासी हैं। आज तक जो पांडित्य कीर्ति लाभद्वारा जो सभाविजयी हो के राजा महाराजों में ख्यातिप्रतिपत्ति कमाय के एक नाम पंडिताई का हांसल करा है। आज हम यदि एकदम आप से मिले तो वो कमायी कीर्ति जाती रहेगी यह हम खूब

समझते वो जानते हैं परन्तु हठधर्म भी शुभ परिणाम शुभ आत्मा का धर्म नहीं। आज मैं आपके पास इतना मात्र स्वीकार कर सकता हूँ कि प्राचीन धर्म परम धर्म अगर कोई सत्य धर्म रहा हो तो जैनधर्म था जिसकी प्रभा नाश करने को वैदिक धर्म वो षट्शास्त्र वो ग्रंथकार खड़े भये थे परन्तु पक्षपात शून्य हो के कोई यदि वैदिक शास्त्रों पर दृष्टि देवे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वैदिक बातें कही वो ली गई सो सब जैनशास्त्रों से नमूना इकठी करी है। इसमें संदेह नहीं कितनीक बातें ऐसी हैं कि जो प्रत्यक्ष विचार करे बिना सिद्ध नहीं होती हैं सम्वत् १६४८ मिति आषाढ सुदी १०. पुनर्निवेदन यह है कि यदि आपकी कृपा पत्री पाई तो एक दफ़ा मिलने का उद्यम करूंगा। इति योगानन्द स्वामी। किंवा योगजीवानन्द सरस्वति स्वामि—

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदारक्तिरक्तः।
दिग्जेताजेतृजेतामतिनुतिगतिभिः पूजितोजिष्णुजिह्वैः
जीयाद्दायादयात्री खलबलदलनो लोललीलस्वलज्जः।
केदारौदास्यदारी विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः ॥१॥

उसी पत्र के साथ ५१ अर्थ गर्भित यह एक काव्य लिख भेजा था जिसमें महाराज श्री आत्मारामजी की विभूति की प्रशंसा है। कई वर्षों तक उसके अर्थ करने का किसी ने साहस न किया। समुद्र में कूदने का साहस करना कोई खेल न था। अतीव हर्ष का समय है कि आज से चार-पाँच वर्ष पहिले विहटा (वर्त्तमान अंबाला) निवासी श्रीमान् पंडित वैजनाथ शर्मा, शास्त्री तथा भिषगाचार्य ने

आशातीत इस काव्य के ७२ अर्थ करके काव्यकर्त्ता की विद्वत्ता और काव्यकुशलता को प्रकट करने के अतिरिक्त अपने बुद्धि-वैभव का परिचय देते हुए साहित्यसेवा और स्व-पर परिश्रम को सफल किया। परन्तु यह भी अप्रकाशित दशा में पड़ा रहने से किया परिश्रम भी तत्काल सफल न हो सका।

काव्यकर्त्ता और अर्थकर्त्ता दोनों विद्वानों के परिश्रम को सफल करने के लिए इनकी समग्र कृति को "श्री आत्मानंदद्वासप्तति" नाम पुस्तक के रूप में छपवाकर प्रकट किया जाता है, इसके छपवाने का सारा श्रेय जैनधर्मप्रभावक स्व-परमतनिष्णात जैनाचार्य श्रीमद्विजयानंद सूरीश्वरजी के पट्टधर वर्त्तमान जैनाचार्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरिजी को है, जिन्होंने शहर अम्बाला निवासी सद्गत लाला लालचन्द जैन सराफ की धर्मपत्नी सुश्राविका सद्गत श्रीमती द्रोपदी प्रसिद्ध नाम सढौरो बाई के फंड के ट्रस्टियों से उपदेश द्वारा आर्थिक सहायता दिलाने में सुप्रयत्न किया है, एतदथ आपको और ट्रस्टियों को धन्यवाद दिया जाना है। नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक के छपवाने का सुकार्य मुझे सौंपा गया था। कुछ भाग मेरी अनुपस्थिति में छपा है। यथा सम्भव शुद्धि का ध्यान रखा गया है, तो भी दृष्टिदोष वा यन्त्रालय की भूल से यदि कहीं अशुद्धि रह गई हों तो पाठक महोदय सुधारने की कृपा करें। किंबहुना सुज्ञेसु—

आत्मानंदोपासक—

देहली—७-६-४० जसवन्तराय जैन।

प्राथमिक नम्र निवेदन

सेवा में निवेदन है कि शहर अम्बाला की जैनसभा की तरफ से शताब्दी सूचनापत्र योगाभोनुगामी काव्य के साथ इस अभिप्राय का मिला कि इस काव्य के अधिक-से-अधिक जितने भी अर्थ हो सकें, उनके लिये मैं प्रयत्न करूं, और पं० भागमल्ल आदि कतिपय प्रेमी मित्रों के प्रोत्साहन से कुछ समय पीछे मैं इस कार्य में प्रवृत हुआ, गुरु जनों की कृपा और इष्ट मित्रों की सद्भावनाओं से "जैन धर्म से तथा महात्मा श्री आत्माराम जी से संम्बन्ध रखने वाले" ७२ अर्थ संपादन करने में मैं सफल हुआ हूं। जहाँ कहीं व्याकरणादि की अशुद्धियाँ रही हों, सज्जन जन इसके अर्थांश रूपी सार पर ही ध्यान देकर अपनाने की कृपा करेंगे।

गच्छतः स्खलंन क्वापि भवत्येवप्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

५२ वें अर्थ से लेकर ७२ वें अर्थ तक महाराज श्री आत्मारामजी की संक्षिप्त जीवनी इसी श्लोक से निकाली है।

मैं सहर्ष यह भी निवेदन करना चाहता हूँ कि उक्त महामुनिराज श्री आत्माराम जी के पट्टधर विद्यमान आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी की तथा जैनधर्म की प्रशंसा में मैंने एक हारबन्ध काव्य तैयार कर श्री जी को भेंट कर दिया है, इसके भी ५० से अधिक अर्थ हैं, वह किसी समय प्रकट किये जायेंगे।

विदुषा मनुचरो मूर्खमन्यः श्रीमत् पण्डित मुरारिलालात्मजो
भिषगाचार्य बैजनाथ शर्मा शास्त्री वैद्य विहटा ग्रामवा-
स्तव्य वर्तमानकालिक अम्बाला शहर निवासी॥

१ १२

योगाभोगानुगामी
द्विजभजनजनिः
शारदारक्तिरक्तो ।
दिग्जेताजेतृजेता
मतिनुतिगतिभिः
पूजितोजिष्णुजिह्वैः
जीयाद्दायादयात्री
खलबलदलनो
लोललीलस्खलज्जः ।
केदारौदास्यदारी
विमलमधुमदो
द्दामधामप्रमत्तः ॥ १ ॥

नमः श्री परमात्मने

जैनं जयति शासनम् ॥

श्री आत्मानन्दद्वासप्ततिः ॥

तत्रादौ मंगलाचरणम् ॥

राधेशो राधिकाधीशं वैजनाथो मुदा स्मरन् ।
योगाभोगेति काव्यस्य, व्याख्यां वितनुतेऽमलाम् ॥

अथेदानीमारभ्यते "योगाभोग" इत्यादिमालाबन्ध-काव्यस्य व्याख्यानसन्दर्भेऽखर्वोद्योगप्रयोगः ।

काव्यस्वरूपम्—यथा

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदारक्तिरक्तो ।
दिग्जेताजेतृजेतामतिनुतिगतिभिः पूजितो जिष्णुजिह्वैः
जीयाद्दायादयात्री खलबलदलनो लोललीलस्वलज्जः ।
केदारौदास्यदारी विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः ॥१॥

अस्यार्थं साधारणोऽर्थः

"योगाभोगानुगामी" इत्यादिविभिन्नविशेषणात्मकानि प्रथमान्तपदानि कर्तृविशेषणत्वेन कर्तृत्वेन वा "जीयात्" इति क्रियापदेन सम्बध्यान्वयो विधेयः ॥

तथाहि—"योगाभोगानुगामी जीयात्" योगो ध्यानात्मकः प्रधानो धर्मः स चात्मनो मोक्षेण सह संयोजनात् "योगः" इत्युच्यते प्राधान्यञ्चास्य तत्त्वदर्शिभिर्महात्मभिः सूपपादितमेव । तद्यथा—

"योगः कल्पतरुश्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः ।
योगःप्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥" इति

तस्यापि योगशब्दस्य निरुक्तिरेवं विहिता योगशास्त्रविशारदैः सुमतिभिः—

"योजनाद्योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
सनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥" इति

स चापि योगः पञ्चाङ्गत्वेन निरूपितो दृश्यते । तद्यथा—

"अध्यात्मभावना ध्यानं समतावृत्तिसंक्षयः ।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो योगमार्गविशारदैः॥" इति

तस्य योगस्य—आभोगः परिपूर्णत्वं त्रुटिराहित्यमितियावत् "आभोगःपरिपूर्णता" इत्यमरः इतियोगाभोगस्तस्मै— योगाभोगाय अनुक्रमेण गच्छति-उत्तरोत्तरं याति इत्येवं शीलं यस्याऽसौ योगाभोगानुगामी गुरूपदिष्टमार्गेण क्रमा-द्योगपूर्त्यै-उद्युञ्जान इति भावः। क्रमश्चापि तत्रैवं दर्शितो योगविद्भिर्महर्षिभिः—

"पूर्वसेवा तु योगस्य गुरुदेवादिपूजनम् ॥
सदाचारस्तपोमुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिता: ॥१॥
आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ॥
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥२॥" इत्यादि

ननु किमर्थोऽयमुद्योगोऽस्य महात्मनो योगम्प्रति यतः "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" इत्याशङ्क्य प्रवृत्तेः फलमपीहैव प्रदर्श्यते यथाशास्त्रं। तद्यथा—

"इहापि लब्धयश्चित्राः परत्र च महोदयः ॥
परात्मायत्तता चैव योगकल्पतरोःफलम् ॥ ३ ॥
अपि क्रूराणि कर्माणि साक्षाद्योगः क्षिणोति हि ॥
ज्वलनोज्वालयत्येव कुटिलानपि पादपान् ॥४॥
तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरापरः ॥
दुखानां राजयक्ष्मायं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥५॥

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ॥
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ६ ॥
अहर्निशमपि ध्यानं योग इत्यक्षरद्वयम् ॥
अप्रवेशाय पापानां ध्रुवं वज्रार्गलायते ॥७॥"

इत्यादि—अलमतिविस्तरेण ।

जीयात्—सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्-योगमार्गेऽन्तरायभूतानि तपोविघातकराणि मन्मथास्त्रादीनि प्राक्तनजन्मकृतपापकर्मफलभोग्यानि च सम्भाव्यासम्भाव्यान्यपि पराभूय सिद्धेषु साधकेष्वपि वाऽत्युत्कृष्टतमं स्थानं लभेतेत्यभिसन्धिः कथंभूतोऽसौ-द्विजभजनजनिः—द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायन्ते ते द्विजाः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या इत्यर्थः, "द्विपूर्वकाज्जनी प्रादुर्भावे" इत्यतः "पञ्चम्यामजातौ" इति डः प्रत्ययः डित्वाट्टेर्लोपः "द्विजः स्याद्ब्राह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु ना" इति मेदिनी । तेषां द्विजानां भजनं भागः-'भजसेवायाम्' इत्यस्माद्धातोर्भावे ल्युट्, शूद्राऽतिरिक्तो भाग इति भावः, तत्र द्विजभजने जनिर्जन्म यस्य स द्विजभजनजनिः, "जनिरुत्पत्तिरुद्भवः" इत्यमरः, द्विजन्मनामेव तादृशोच्चकर्मसु प्रवृत्तेः सम्भवात् । योगाभोगानुगामिता स्वभावसिद्धा एवेत्युत्थिताऽऽकाङ्क्षया फलितोऽर्थः ।

पुनः कथम्भूतः—शारदारक्तिरक्तः शारदा—

सरस्वती वागधिष्ठात्रीदेवी—शरदृतौपूज्यत्वाच्छारदा आश्विनो मासः शरदृतावेव गण्यते तत्पूर्णिमाया एव शरत्पूर्णिमाऽभिधानात्-तस्मिन्नेव मासि नवरात्राऽवसरे दुर्गापूजा तन्त्रशास्त्रैः सुविशेषतया प्रत्यपादि दुर्गानाम भगवती, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती-इति त्रिनाम-रूपात्मिका त्रिगुणात्मिका शक्तिस्तेषु दिनेषु महारात्र्यादौ विभिन्नैरुपकरणैर्विभिन्नेन च विधानेन विभिन्नास्वेव तिथिषु पूज्यते । तत्पूजनाख्यानपरं वचनन्तु—

"मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्" इति,

तथा च शब्दकल्पद्रुमे शारदाशब्दनिरुक्तिः—

"शरत्काले पुरा यस्मान्नवम्यां बोधिता सुरैः ।
शारदेति समाख्याता पीठे लोके च नामतः" ॥१॥

तस्यां रक्तिरनुरागः-प्रेम इतियावत्, 'रञ्ज रागे' इत्यस्माद् भावे क्तिन्, तया रक्तः परिप्लुतो भावित इति भावः । 'रञ्ज रागे' इत्यत एव कर्मणिक्तएतदेव वीजं पूर्वोक्तोपपत्तौ ।

पुनःकथंभूतो दिग्जेता...दिशां जयस्य कर्ता-तत्तद्दिशासु स्थिता ये विद्वांसस्तेषामूहापोहसम्पादयित्री मनीषा सम्पत्तीनां प्रमाणप्रमेयादिपदार्थषोडशकस्य तत्त्वज्ञानजेन स्वतर्कवितर्कप्रागल्भ्येन प्रधर्षयिता, न तु खड्गादि-व्यापारेण स्वप्रभुत्वस्थापयिंता हिंसापरित्यागस्यात्रैव

विशेषाश्रयत्वादिति लाक्षणिकोऽयमर्थोऽत्र बोध्यः "मञ्चाः क्रोशन्ति" इतिवत् ।

सरस्वत्याः प्रेमित्वाद्विद्याभ्यासव्यसनित्वमस्मिन्निर्विवादसिद्धमेव तद्भूयस्त्वाद्दिग्जेतृत्वमपप्यस्य परम्परापरिप्राप्तमेवेति न कस्यापि शङ्कापङ्कक्लेशावकाशः ॥

पुनः कथंभूतः-जेतृजेता, जयन्तीति जेतारः-जयति परान् पराभवति असौ जेता, द्वयोरपिशब्दयोरेक एव-'जि जये' धातुःउभयत्राऽपि 'ण्वुल्तृचौ'इत्यनेन तृच् । तेषां जेतृणां शत्रुपराजयकर्तृणामपि जेता पराभावयिता ।

पुनः कथंभूतः-सत्कृतोऽभ्यर्हणीयत्वात् सम्मानं गमितः-काभिः—मतिनुतिगतिभिः—मननं मतिः बुद्धिः "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीःप्रज्ञा शेमुषी मतिः" इत्यमरः—नवनं नुतिः स्तुतिः "स्तवः स्तोत्रं नुतिः स्तुतिः" इत्यमरः-गमनं गतिरभ्युपायः 'गतिर्ज्ञाने यात्रायामभ्युपाये' इति शब्दार्थचिंतामणिः ॥

तदित्थम्—मतिमनुगता नुतयो मतिनुतयः "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इत्यनेन समासः, शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोप इत्यनुगतशब्दस्य लोपः, मतिनुतय एव गतयो मतिनुतिगतयस्ताभिर्मतिनुतिगतिभिः । अथवा द्वन्द्वेन मतिनुतीनां गतयो गमनानि—प्राप्तय-

इति यावत् (पहुँच इति भाषा) "गुजर "इत्यर्दू भाषा ।
यथा च महाकाव्ये रघुवंशे कालिदासः—

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः" ॥

ताभिःपूजितः । कैः (पूजितः) जिष्णुजिह्वैः जयन्ति इत्येवं शीलं यासां ता जिष्णवः "जि जय" इत्यस्माद्धातोः "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इत्यनेन ग्स्नुः "लशक्वतद्धिते:" इति गकारस्येत्वम् गित्वाद्गुणाभावः "आदेशप्रत्यययोः" इति सस्य षत्वम् "ष्टुना ष्टुः" इति नस्य णः-जिष्णवो जिह्वा येषां तैर्जिष्णुजिह्वैः पूर्वस्मिन् विशेषणे ये जेतृत्वेनाभिहिताः त एव जिष्णुजिह्वास्तद्-व्यापारेणैव तेषां जेतृत्वसिद्धेः सद्भवात् तावत्कालपर्यन्तन्तु तेषामेव जेतृत्वप्रसिद्धित्वाच्च साम्प्रतञ्च तेऽविरुद्धशुद्धव्यवहारप्रचारसन्तुष्टाःतद्गुणगण-परिमुष्टास्तत्स्नेहगेहाभिरमणाचरणाः सन्तोऽस्य महात्मनः स्वाभाविकगुणैरेवावर्जितमात्मानं मन्यमानास्ताभिरेव जिष्णुजिह्वाभिः स्तोतुमारब्धवन्तो । यतः—

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥

अन्यच्च—

"किं कवेस्तेन काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः ।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥" इति

न च शंक्यं यदनेन ते विमानिता भवेयुरिति, तथाकरणे अहिंसाव्रतभङ्गप्रसङ्गात्, यतःपरमनोऽन्यथनमात्रमपि हिंसनमेव स्वीकुर्वन्ति जैनाचार्याः ।

पुनःकथंभूतो-दायादयात्री, दायं विभजनीयं धनं-सम्पत्तिमितियावत्—आददति स्वत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति ते दायादाः—बान्धवाः—पुत्राश्चापि, "दायादौ सुतबान्धवौ" इत्यमरः, "दायादस्तु भवेत्पुंसि सपिण्डे तनयेऽपि च" इतिमेदिनी । दायपूर्वकात् "डुदाञ् दाने" इत्यत आङ्पूर्वकात् 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन कः, "आतो लोप इटि च" इत्याकारलोपः । तेषां दायादानां यात्रा--अभिनिर्याणं--यत्रेत्यसौ दायादयात्री "अत इनिठनौ" इत्यनेन इनिः पूर्वजानान्त्वस्यैव महात्मनः सत्कर्मोत्कर्षेणोद्धारस्यावश्यंभावित्वात् सर्वथोच्चोच्चयोनिप्राप्तिक्रमेण मोक्षावधिगमनसिद्धया यात्रा स्थगिता भविष्यति, ऐहलौकिकयात्रा तु अस्मिन्नेव परिसमाप्ता, यथाहुर्वैयाकरणाःपुत्रशब्दव्युत्पत्तिं प्रयुञ्जानाः—पुनाति निखिलं कुलमसौ पुत्रः, पूयन्ते सर्वे वंश्या येनेत्यसौ वा पुत्रः । यथा च नीतिरपि—

"एकेनैव सुपुत्रेण सर्वो वंश उदीर्यते ।।
पुष्पितेन सुगन्धेन—तरुणा तद्वनं यथा ।।" इति

नैतच्छङ्कनीयम्परेषां कर्मणःफलमपरे न भोक्तुमर्हन्तीति

पितुः सम्पत्तौ पुत्राधिकारदर्शनात्, पुत्राद्यर्जितद्रव्यनिचयेऽपि पित्राद्यधिकारसम्भवाच्च। तथा श्रुतिः—'पुत्रेण लोकं तरति' इति भाष्यकारःपतञ्जलिरपि व्याकरणाऽऽध्ययनफलोपदेशे— 'यश्चैनमधीते यश्चैनमध्यापयति, मातापितरौ चास्य स्वर्गेलोके महीयेते' इति। महाकविःकालीदासोऽपि—'सन्ततिः शुद्धवंश्या हि, परत्रेह च शर्म्मणे' इति।

पुनरपि यथा—

"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः--तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा" किम्पुनर्वक्तव्यं यदीदृशः सुतपाः सर्वतोगीतकीर्तिः सुपुत्रः स्यात्। अत ऊर्ध्वमपि महासत्त्वस्यास्य सुतरामूर्ध्वरेतस्त्वात् सन्ततेरनुत्पादनात् सदायादयात्रा (वंशपरम्परा) एतदवधिकैवेति न दुर्विभाव्योऽयं विषयः कस्यापि चेतनावतः। अतः सुतरां घटते दायादयात्रीतिविशेषणमस्मिन्महाभागे।

पुनः कथंभूतः—खलबलदलनः, खलाः—दुर्जनाः, "पिशुने दुर्जनःखलः" इत्यमरः, तेषां खलानां बलम्—सामर्थ्यं सैन्यं वा—"स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं नाकाकसीरिणो" इत्यमरः। तत् खलबलं दलति—विदारयति—इति खलबलदलनः,"दल विशरणे"--इत्यतो भौवादिकात्

"नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इत्यनेन ल्युः प्रत्ययः, "युवोरनाकौ" इत्यनेन युस्थानेऽनादेशः, विशरणमंगानां विभागः। एषां दर्शनप्रभावेण प्रभाविता एव दुर्जना दौर्जन्य-सामर्थ्यहीना विभागशो वा खलत्वं हित्वा सौजन्यमापेदिरे, इति भावः। तथाचोक्तं—

"क्षमाखड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
निस्तृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति"॥ इति

इहापि शान्तरसनिर्देशेनैव निर्वाहः।

पुनःकथंभूतो—लोललीलस्वलज्जः, लोलाः—चञ्चलाश्च—ता लीलाः प्रभवक्रियाः—इति लोललीलाः "लीलां विदुः केलिविलासखेलशृंगारभावप्रभवक्रियासु" इति विश्वः, ताभिर्लोललीलाभिः स्वस्मिन्नेव लज्जते—इति लोललीलस्वलज्जः, लज्ज व्रीडे—इत्यतः पचाद्यच्, आत्मनि-आत्मना-आत्मानमनुचिन्वन्— जन्ममरणादिक्रियाश्चञ्चला—अस्थायिरूपेण परिप्राप्ता अनुभवन्नपि स्वस्मिन्नात्मनि एव लज्जते सत्कर्माननुष्ठानेन पुनः प्रभवक्रियायामात्मन एव दोषसम्भवात्। अतएवास्मिन् जन्मन्यपुनर्भवायैव योगमार्गाऽनुधावनमिति भावः॥

पुनःकथंभूतः—केदारौदास्यदारी—केदारः—क्षेत्रम् "पुन्नपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्" इत्यमरः, स च कर्मणां

केदारः इदं शरीरमेव, 'इदं शरीरं कौन्तेयक्षेत्रमित्यभिधीयते इति श्रीमद्भागवद्गीतायाम् श्रीमुखत एवाभिधानात्, तस्मिन्केदारे यदौदास्यम् उदासीनता-वैराग्यम्मनोयोगाभाव इति यावत्, केदारौदास्यं सांसारिकभोगहेतुत्वादस्मिञ्छरीरे एव वन्धनकारणदृष्ट्यात्रानवधानम्-तस्य केदारौदास्यस्य दारो(आदरो) यस्यास्तीति असौ–केदारौदास्यदारी, दरणं-दारः–भावे घञ्, "दृङ् आदरे" इत्यस्य घञि रूपम्, "अत इनि" इत्यनेनेनिः, स्वशरीरसद्भाव एव पूर्वजन्मनि मोक्षस्यासाधकत्वाल्लज्जावहोऽतोऽस्मिन् जन्मनि तत्पालनपोषणयोरनवहितत्वमेवाद्रियत इति भावः ॥

पुनःकथंभूतो—विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः—विमलम्–निर्मलं-मलरहितम्, शरीरमलेन यद्वा स्वाभाविकसौम्यतया क्रोधादिजन्यैः पित्तादिविकारैश्चापि रहितं यन्मधु-मातुः क्षीरम् "मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधु, दैत्ये चैत्रे वसन्ते च" इति विश्वमेदिन्यौ । तद्विमलमधु तस्मिन्-विमलमधुनि यो मदः–वीर्यम्, "मदो रेतसि कस्तूर्य्यां गर्वे हर्षे भदानयोः" इति मेदिनी ॥ असौ विमलमधुमदः, यथा मातुःक्षीरेऽपि वीर्य्यं निगूढमेव तिष्ठति तथाऽनेनाऽपि सर्वथा निगूढमेव रक्षितं याथातथ्येनातस्तस्य विमलमधुमदस्य यदुद्दाम—उत्कटं—महद्, धाम—तेजस्तद्विमलमधुमदोद्दामधाम "धाम शक्तौ प्रभावे

च तेजोमन्दिरजन्मसु'' इति विश्वः। तेन विमलमधुमदोद्दामधाम्ना प्रमत्तः—प्रमुदितो, ''मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु''-इत्यस्मात्कर्त्तरि क्तः प्रहृष्टः सन्-जीयादित्यनेनान्वयः। इह खलु काव्यकृता कीदृक् सुशोभना सरणिराश्रिता, योगानुगामित्वे द्विजोद्भवत्वं वीजम्, तत एव विद्याऽनुरागस्ततश्च दिग्जेतृत्वं क्रमागतमेव तत्राऽपि जेतृजयोऽर्थादेवागतस्ततश्च जिष्णुजिह्वैः कृतं पूजनं स्वभावसिद्धमेव लोके सन्ततिप्रशंसाश्रवणाद्दायादानां निर्वृत्तिः खलबलदलनञ्च युगपदेव समपादिषाताम्, एतावत्पर्यन्तन्तु ऐहलौकिकं कर्म; अतः परञ्चाऽत्मन्यात्माऽन्वेषणाल्लोकलोललीलाया उद्वेगः-ततश्च शरीरं विगमय्याऽपि परलोकसाधनं तत्र च विचित्रधामप्राप्तिः, इत्युत्तरोत्तरसम्बद्धैः शृङ्खलासम्वलितैरिव पदार्थैरर्थसङ्गतावपि माला—इव हि व्यरचीति नान्तर्हितं किमपि शेमुषीजुषाम्, अथ च सामान्यार्थेनैव न किमपि परिशेषितं तेन विदुषा तथापि वुधजनवुद्धिवैदग्ध्यप्रदर्शनमनस्केन तेन प्रतिपादितम् (अस्य पद्यस्यैकपञ्चाशदर्थाः सम्भवन्ति इति) तद्वचनं सार्थयितुं यथाशक्ति यथामति च प्रयतिष्ये। तदर्थं विद्वज्जनानां कृपाकटाक्षस्यैवाऽपेक्षाऽस्तीति प्रार्थयतेऽम्वालयस्थो मूर्खम्मन्यो वैजनाथ शास्त्री। अत्र पद्ये स्रग्धरा वृत्तं, तल्लक्षणं यथा—

''म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्''

ओजो गुणः, "ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते, वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु" इति तल्लक्षणात् अत्रापि वीरादयः शब्दा उपलक्षणानि तेन वीराभासादावप्यस्यावस्थितिरिति दर्पणकृत् । अत्र तु "दिग्जेता जेतृजेता" इत्यादि शब्दैर्वीरोरसः साक्षाज्जागरूकत्वेन दृष्टिपथमवतरति । ततश्चश्लेषःसमाधिरौदार्यं प्रसादश्चेतिगुणचतुष्टयमपि निर्विवादसिद्धमेवात्र लभ्यते-तस्योजस्येवान्तर्भावात् । उक्तञ्चैतत्—

"श्लेषःसमाधि रौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ॥"

चित्रश्लेषावलङ्कारौ, शब्दालङ्कारेषु चित्रोऽलङ्कारः, श्लोकाक्षराणां मालाऽकृतेर्हेतुत्वात् । तल्लक्षणं यथा—

"तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता" इति काव्यप्रकाशोऽर्थालङ्कारेषु च श्लेषोऽलंकारः सुस्पष्ट एव साहित्यदर्पणे—

"श्लिष्टपदैरनेकार्थाऽभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिंगानां प्रत्यययोः पदयोरपि ॥
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः" इति

तल्लक्षणात् । अलंकारद्वयमपि चेतश्चमत्कारावहं प्रशस्त-

तरत्वात् । गौडी रीतिः, "समासवहुला गौडी" इति तल्लक्षणात् । काव्यकर्त्तुरस्य विदुषो महती कवित्वशक्तिः सुतरां श्लाघनीया, व्युत्पत्तिः प्रतिभा चापि महताऽऽयासेनैव सम्पादिता भवेदिति नास्त्यत्र सन्देहावसरः कश्चित्-क्वचित् कस्यचिदपि । सम्प्रति किलाभ्यर्थने यदर्थान्तर-विधानात्प्राग्युक्ततरं प्रतिभाति, यत्सर्वत्र व्याकरणे तत्तच्छब्देषु क्वचिदपि शब्दाङ्गप्रत्यंगेषु परिवर्तनदर्शनेनैव रूपान्तर-मिदमस्य शब्दस्येति वैकल्पिकरूपप्रक्रिया सर्वसम्मतत्वेन लोचनगोचरतामभ्युपैति, ततएव "संस्कर्ता" इत्यस्याष्टोत्तरशतपरिमितानि रूपाणि, गवाक्शब्दस्य पञ्चशतोत्त-रसप्तविंशति रूपाणीत्यादि वक्तुं परिवृढा दीक्षिताद-योऽभूवन्, न खलु शब्दानां सर्वाङ्गपरिवर्त्तनेन, अन्येष्वपि सर्वेषु शास्त्रेषु क्वचिदप्येकाङ्गे परिवर्तनविधानेनैव विकल्प-प्रवृत्ताय उररीक्रियन्ते । लोकेऽपि जटिलोऽसौ देवदत्तोऽधुना मुण्डी काषायो वा सम्वृत्त इत्यादिव्यवहारः सर्वत्र सरीसर्ति । प्रकृतेऽन्येवमेव कस्यचनापि विशेषणपदस्य पूर्वोक्तादर्थान्तरविधानेनैवापर एवायमर्थसंदर्भ इत्यवधार्य कतिपया अर्था यथामति यथाशक्ति चात्र प्रदर्शयिष्यन्ते ।

भावार्थ—साङ्गोपाङ्गयोग विद्या के अनुकूल आचरण वाले, द्विजों के भाग में जन्म धारण किये हुए, और विद्या के प्रेम में रंगे हुए, दिशाओं के जीतने वाले, तथा जीतने वालों को भी

जीतने वाले, और सब पर विजय पाने वाली जिह्वाओं वाले विद्वानों से अपनी बुद्धि के अनुसार की हुई स्तुति की धारा से पूजे हुए, अपने वंश की अपने पर ही समाप्ति करने वाले, दुर्जनों के बल को कुचलने वाले, और विलक्षण लीला (चरित्र) वाले, और अपनी लज्जा को अपने हाथ में रखने वाले, कार्य सिद्धि के लिए अपने शरीर की भी परवाह न करने वाले, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त वीर्य रक्षा के कारण उत्पन्न हुए तीव्र तेज से ही मस्त रहने वाले, श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र और सदा विजयी होवें ॥१॥

अथ द्वितीयोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्योगाभोगानुगामी जीयात्—द्विर्जायन्ते ते द्विजाः । तथा च स्मृतिः—

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः सँस्काराद्विज उच्यते" योगी याज्ञवल्क्योऽपि—

"मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः" इति ॥

तेषां द्विजानां भजनाय सेवनायैव जनिः-जन्म यस्य स द्विजभजनजनिः, बाल्ये तु विद्याभ्यासार्थम् ब्राह्मणानां सेवा कृता, पालनपोषणार्थञ्च क्षत्रियवैश्यानां, प्राप्तवि-

द्यादिसम्पत्तिकेन च सत्कर्मोपदेशेन एव सन्मार्गे गमिताः, तस्मात्सर्वं जीवनं द्विजसेवन एव व्यत्यायितमिति भावः। जनिः शब्दोऽत्र जीवनपरः प्रादुर्भावस्य तत्रापि सत्वात्। "भज सेवायाम्" इति भावे ल्युट् अतएव योगाभोगानुगामी, योगः—संगतिर्मेल इति यावत, सापि द्विजैः सह एव क्वचित् स्वयं गत्वा गुर्वादिभिः सह संगतिकरणम् क्वचिच्च समीपसमागतजिज्ञासुश्रावकसमूहेन सह संगतिः—नगरान्नगरं प्रति गमनेन तु स्वेच्छाकर्तृको योग उपदेशश्रवणार्थं समागतभव्यजनैः सह परेच्छाकर्तृको योगः—"युजिर् योगे" इत्यस्माद्धातोर्भावे घञ् "चजोः कुघिण्ण्यतोः" इति जकारस्य गकारः "पुगन्तलघूपधस्य च" इत्यनेनोपधाया उकारस्य गुणः तस्य योगस्याऽऽसमन्ताद्भोगः परिपालनम् तमनुश्रित्य गच्छति—जीवनयात्रां निर्वहति इत्येवंशीलं यस्य सः—योगाभोगानुगामी आङ्पूर्वकात् "भुज पालनाभ्यवहारयोः" इति पालनार्थकभुजधातोर्भावे घञ् अनुपूर्वकाद् "गम्लृगतौ" इत्यतस्ताच्छील्ये णिनिः, "अत उपधायाः" इत्युपधाया वृद्धिः, अयं भावः—यत्कलिधर्मान् सम्यक् परिशोध्य युगधर्मनुश्रित्य "सङ्घे शक्तिः कलौ युगे" इति शास्त्रोक्तवचनमनुशीलयन् द्विजेषु पारस्परिकविरोधागतमनोमालिन्यादिदोषान् समीक्षमाणः, तस्मात्सङ्घशक्तेरुपदेशेनैव द्विजो-

द्धरणरूपां सेवां विधातुं धृतजन्मा यं महात्मा पूर्वंस्वयमेव संगतिरूपं योगमनुसृतः। जीयात्—संगतिविघटकविघ्न-सन्दोहरूपं शत्रुं निराकृत्य, स्वकर्मणि साफल्यं लभेत इति भावः। तथाकर्तुं विद्वानेव पारयति इत्याकाङ्क्षा-यामाह--कथंभूतःसः–शारदारक्तिरक्तः—विद्यानुरागवान्। पुनः कथंभूतो—दिग्जेता—दिग्विजयी, पुनः कथंभूतो—जेतृजेता—सर्वोत्कृष्टो जेता, पुन कथंभूतो—जिष्णुजिह्वै-र्मतिनुतिगतिभिः पूजितो--मतिमद्भिर्यथाशक्ति समर्चितः। पुनः कथंभूतो—दायादयात्री—स्वसपिण्डानां चरमा गतिः, पुनः कथंभूतः—खलबलदलनः–स्वयोगबल (स्व संगृहीतशिष्यकोटिबल) दर्शनमात्रेणैवोत्सारितखलसमुदायः। पुनः कथंभूतो—लोललीलस्वलज्जः, सांसारिकचञ्चलविला-सेभ्यः स्वयं लज्जमानः। पुनः कथंभूतः—केदारौदास्यदारी, शरीरपरिचर्यायामनवधानवान्। पुनः कथंभूतो—विमलमधु-मदोद्दामधामप्रमत्तः—मातुः क्षीरोद्भूतवीर्य्येणैव प्रकृष्टतेज-स्वितां प्राप्त इत्यर्थः, पूर्वव्याख्यातत्वात्संक्षिप्तार्थोऽत्र दर्शितः॥

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों ऊंची जातियों की विद्या के पठन पाठन तथा धर्मोपदेश द्वारा उच्च लोकादि गति की सिद्धि से सेवा करने के लिए ही जन्म धारण किये हुए, और परस्पर संगठन आचार में ही जीवन बिताने वाले, विद्या के प्रेमी,

जगत्-विजय करने वालों से भी पूजे हुए, जीतने वालों को भी जीतने वाले, तथा दिगन्त पर्यन्त जीतने वाले, अपने पूर्वजों (वंशपरम्परा वालों) को भी प्रसिद्ध करने वाले, दुर्जनों के समुदाय को भी दमन करने वाले, चंचल लीलाओं*से अपने आप में ही लज्जित रहने वाले, शारीरिक उदासीनता की चिंता से रहित, ब्रह्मचर्य के तेज से सदा प्रसन्न रहने वाले, श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र विजय प्राप्त करें ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो योगाभोगानुगामी जीयात्—

शारदा सरस्वती, "शारदा स्त्री सरस्वती" इति त्रिकाण्ड-शेषः, सा शारदा देवताऽस्येति शारदम् "साऽस्यदेवता" इत्यण्, शास्त्रं,तस्मिन्नरक्तिः, न रक्तिर्यस्मात्परा सा अर-क्तिरनुत्तमवत्समासः, [अरिष्टमितिवद्वा समासः] परार-

---

* संसार की चंचल लीलाएँ अर्थात् जन्म मरण आदि क्रियाएँ कर्म-बन्धन में बन्धने से ही होती हैं और जन्म पाकर सन्यासादि सन्मार्ग में लगना भी शुभ कर्मों का फल है। वे अपने चित्त में इसलिये लज्जित होते थे कि हमारे शुभ कर्मों में कोई कमी रह गई जिसके लिये हमें दोबारा फिर जन्म धारण करना पड़ा, यदि वह कमी पूर्व जन्म में ही न रहने पाती तो फिर जन्म क्यों लेना पड़ता सीधे मोक्ष में ही चले जाते। अस्तु ! जो हुवा सो तो हुवा अब इस जन्म में कोई त्रुटि न रहे। यतः यह प्राकृत नियम है कि किसी कार्य में असफल मनुष्य लज्जित होकर यदि किसी कार्य को फिर करता है, तो सावधानी से करता है फिर उसमें वह सफल भी हो जाता है।

क्तिरित्यर्थस्तस्मिन् शारदेऽरक्तिः—शारदारक्तिः, तया शारदारक्त्या रक्तो—रञ्जितः शारदारक्तिरक्तः, शास्त्रान्तर्गतगाढप्रेम्णा तन्मयतां नीत इति भावः ।

योगाभोगानुगामी—योगो योगशास्त्रं दर्शनषट्कस्यैकाङ्गभूतम्, तस्याऽऽभोगः परिपूर्तिर्योगाभोगस्तस्मै योगाभोगाय, अनु—समीपं गच्छन्ति ते योगाभोगानुगाः, तेषां योगाभोगानुगानाममो गतिराश्रय इति भावः, असौ योगाभोगानुगामः, "अम गतौ" इत्यस्माद्भावे घञ्; मित्वान्नोपधावृद्धिः । सोऽस्यास्तीति योगाभोगानुगामी, "अत इनि" इत्यनेनेनिः ॥

योगशास्त्रपिपठिषावतां हृद्गतसन्देहनिरसनपूर्वकं तत्परिपूर्णतां सम्पादयितुं तेषामाश्रयदातेत्यर्थः । अनेन योगशास्त्रपारङ्गमत्त्वमस्मिन् व्यञ्जयति कविरतएव द्विजभजनजनिः—द्विजसेवनपरः (द्विजातिरिक्तस्य योगशास्त्रानवगमात्तदुत्कण्ठैव न सञ्जायते)। द्विजास्तं गुरुत्वेन सेवन्त इत्यतो द्विजानां भजनाय जनिरस्याऽभूत् ॥

स च द्विजेषु शिष्यव्यवहारेण तान् सेवत इति तदर्थजन्मा, यद्वा जलस्थलयोर्नौशकटव्यवहारेण परस्परं सेवनाय जन्मधृक् । योगशास्त्रेऽनन्यसादृश्याद् दिग्जेता, तत एव जेतृजेता—इत्यादीनि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते,एवंभूतैर्विशेष-

णैर्जुष्टो योगशास्त्रवेद्यविशेषविज्ञानविद्यातर्कविघ्नान् जीयात् तिरस्कुर्यादिति भावः । शेषम्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—शास्त्रों में अनुपम प्रेम के कारण दिन रात स्वयं ही शास्त्र रूप बने हुए होने से योगशास्त्र के पार तक पहुँचे हुए, अतः एव योगशास्त्र के मर्म समझने के लिये आये हुए द्विजों के सन्देह दूर करने से ही द्विज सेवा के लिए ही जन्म धारण किये हुए, दिशाओं में जय प्राप्त करने वाले, जीतने वालों को भी जीतने वाले, और विजयशाली वाणी वालों से भी अपनी मति स्तुति गति के अनुसार पूजे हुए, अपने कुटुम्ब वालों की यात्रा के आधार, दुर्जनों की दुर्जनता को दूर करने वाले, सांसारिक चंचल व्यवहारों में सबसे अधिक लज्जा धारण करने वाले, संसार की चिंता को उखाड़ने वाले, निर्मल ब्रह्मचर्य के तेज से उत्कट तेजस्वियों को भी तेजहीन करने वाले, श्री विजयानन्द सूरि जी विजययुक्त होवें ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽर्थः

दिग्जेता—जीयात्—

जा—मत्सरा धूर्ता इत्यर्थः । "जः पुमान् विजये मेरौ विस्तरे मत्सरे जने" इत्यभिधानराजेन्द्रे–एकाक्षर-कोषः, तेषां जानाम् इः—निराकरणम्प्रधर्षणमिति यावत् "इर्भेदे सरोषोक्तौ निराकरणेऽनुकम्पने" इत्यभिधान-

राजेन्द्रः, इत्येवं जेर्धूर्तदमनमित्यर्थः। तच्च शान्तरसेनैव, "अतिशीतलमप्यम्भः किम्भिनत्ति न भूभृतः" इति न्यायेन सूपदेशैः स्वदर्शनप्रभावेणैव वा तद्हृदयेषु पश्चात्तापऽनुवृत्त्या धिक्करणमिति भावः।

तज्जयं तायते—सन्तनोति—विस्तारयति—असौ जेता, "तायृ सन्तानपालनयोः" इति धातोः कर्त्तरि क्विप्, धूर्तदमनकर्ता इत्यर्थः। दिक्षु सर्वतो दिशाञ्जेता दिग्जेता, अतएव योगाभोगानुगामी, योगः—-कर्मसु कौशलमिति वचनात्। योगः कर्मकुशलता, तद्व्यापारपारीणत्वन्तस्याऽभोगोऽन्यूनत्वं योगाभोगः, तत्र योगाभोगे (कर्तव्यचातुर्यसर्वस्वे) अनु—सादृश्येन गच्छति, सादृश्यं--यथायोग्यत्वं जानातीति वा इत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी जीयादुत्कर्षम् भजताम्। कर्मसु निपुणतया यथायोग्यव्यवहारविदेव दिक्षु मात्सर्यनिराकरिष्णुः प्रभवितु सम्भवति, ततश्च स्वत एवाऽपरे तद्वशगा भवन्ति, ततस्तेषाञ्जयस्तु करतलागतामलकवद्धस्तगत एव, अतएवाह—जेतृजेता सर्वजेता। जेतृणाञ्जये सिद्धेऽन्ये सामान्या जनास्तु विनायासमेव जिता भवन्ति, इति तत्त्वार्थः। ततो जिष्णुजिद्भिरित्यादि यथापूर्वं विशेषणान्वेषणं विधेयमित्यलं विस्तरेण॥

भावार्थ—परछिद्रान्वेषण से पराये मतों में दूषण देने वाले

धूर्तों को भी शान्त रस से ही दबा लेने के प्रकार का संचार करने वाले, इसी से अपनी कर्म कुशलता में पूर्णता प्रकट करने वाले, इसी से जीतने वालोंपर भी विजय पाने वाले, मद मात्सार्यादि का समूलोन्मूलन करने वाले, बड़े बड़े विद्वानों से भी प्रशंसा किये हुए, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त, श्रीविजयानन्द सूरि सर्वत्र विजयी होवें ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽर्थः

जेतृजेता योगाभोगानुगामी जीयात्—

जयतीति जेता—कामः, तस्यैव सर्वविजयित्वात्, तस्य विजयवृत्तान्तवर्णनन्तु कुमारसम्भवादौ प्रसिद्धमेव। भगवतो विष्णोः कुटुम्बसम्पत्तिवर्णनेऽपि "पुत्रश्चैको भुवनविजयी मन्मथो दुर्निवारः" इत्यभिहितम्, अतः सर्वोत्कृष्टजेतृ–शक्तिमान् काम एव, तस्यापि जेता—पराभावयिता, कामस्य मनोभवत्वात् तत्रैव तत्प्रसरस्याऽनवकाशदातेति भावः। अस्यैव विजयोऽतिकठिनतया सम्पाद्यते, सोऽपि केनचिदेव सुमातुः पुत्रेण। यथा चोक्तं भर्तृहरिणा—

"मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

इति कामविजेतेत्यर्थः । अतएव योगाभोगानुगामी, योगः सङ्गः कामुकानां गमाऽगमरूपस्तस्य योगस्य अभोगः—अनुपभोगः—अनाश्रयणमिति यावत् । तदुक्तम्—

"सङ्गः सर्वात्मनो हेयो यदि त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सहितस्य हि भेषजम् ॥"

इति हेतोः सङ्गपरित्याग इत्यर्थः । तं योगाभोगम् अनु—अवधार्य, "अनु अवधारणे" इति शब्दाऽर्थ-चिन्तामणिः । सम्यक् पूर्वापरं विचार्य गच्छति—जीवन-यात्रां निर्वहति—इत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । सङ्गपरित्यागेनैव कामजेतृत्वस्य सम्भवात्, अतएव च खलबलदलनः, खलः काम एव मारकत्वात् । तस्य बलं सैन्यम्—लोभादिसमुदितं, तं दलयतीत्यसौ खलबलदलनः, जीयात्—मनोमालिन्यकरीर्वृत्तीः पराकुर्यादिति भावः । लोललीलस्वलज्ज इत्यादीनि यथायथं योजनीयानि । ग्रन्थभूयस्त्वभयात्स्थाने स्थाने न नियुज्यन्ते । पूर्ववत्तेषामप्यर्थो बोध्यः ॥

भावार्थ—संसार भर पर विजय पाने वाले कामदेव पर भी विजय प्राप्त करने वाले, तथा कामी जनों के संसर्ग तथा सम्पर्कमात्र से भी दूर रहने वाले, तथा कामोद्दीपक खाद्य भोग्य पदार्थों की इच्छा मात्र को भी दबा कर मनमें मलीनता उत्पन्न करने वाली

वृत्तियों से भी दूर रहने वाले, इसी प्रकार काम संचारक लीलाओं से भी दूर रहने वाले, कामी जनों के अपने शरीर में भी उत्पन्न हुई घृणा को सदुपदेश से निवारण करने वाले, ब्रह्मचर्य के निर्मल तेज से असद्भावना को मिटाकर प्रसन्न रहने वाले, श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र विजय को प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽर्थः

जिष्णुजिह्व मतिनुतिगतिभिः पूजितो योगाभोगानुगामी जीयात्—

जयनशीला जिह्वा यस्यासौ जिष्णुजिह्वस्तत्सम्बुद्धौ हे जिष्णुजिह्व ! मतिर्नुतिगतिभिः (करणभूताभिः) पूजितः, पूजा सञ्जाता यस्याऽसौ पूजितः, पूजावान् मूर्तिपूजाप्रचारवान्नित्यर्थस्त्वमिति शेषः। ऐः—आगतोऽसि, आङ्पूर्वकात् "इण् गतौ" इत्यस्य लङि मध्यमपुरुषैकवचने रूपमेतत्। स्वबुद्ध्यनुकूलस्तोत्रैस्तदर्थज्ञानपूर्वकं पूजा कर्त्तव्या इति सिद्धान्तयुक्तः साम्प्रतिके तु त्वमेवाऽऽयातोऽसि पुनर्मूर्तिपूजाभिधानपर इत्याकूतकम्। पूजितः-पूजा-सञ्जाता यस्य सः "तदस्य सञ्जातन्तारकादिभ्य इतच्" यथा तारकितं नभः, लज्जितः पण्डित इत्यादिवत्, आकृतिगणत्वात्।

कथम्भूतस्त्वमित्याकाङ्क्षायां—योगाभः, योगः वपु-

स्स्थैर्यकरप्रयोगः, तीर्थङ्कराणाम्वपुःस्थैर्यकरप्रयोगवान् इत्यर्थः। वपुः शरीरं मूर्तिरिति यावत् स्थिरतां नेयं स्थापयितव्यमित्यर्थः, एवमात्मकः प्रयोगो व्यवहारः "योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु"। "वपुः स्थैर्यप्रयोगे च विष्कुम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि। कार्मणेऽपि च" इति मेदिनी। तेन योगेन वपुःस्थैर्यप्रयोगेण, आभा शोभा (यशो) यस्याऽसौ योगाभः, पुनःकथंभूतो—गानुगामी, गः—गाथा, लोके तु गाथा शब्देन कथा गृह्यते, तन्मूर्तिप्रकरणे पूर्वकालिककथासु जैनशास्त्रेष्वपि मूर्तिपूजा क्वचिद् दृष्टा भवेत् तदनुकूलगामीत्यर्थः। परञ्जैनशास्त्रेषु बौद्धशास्त्रेषु चापि गाथाशब्दः प्रमाणिकश्लोकपरस्तद्विषयेऽपि प्रमाणिकश्लोकम् (सूत्रं वा) अनुसरणशील इत्यर्थः। एतेनात्मारामागमनसमयात् प्राङ् मध्ये मध्ये मूर्तिपूजनं लुप्तप्रायमभवत्, परङ्गाथाऽनुगामिनोऽस्य हृदि पुनरपि पूजाभावः सञ्जातः, तत एवानेन स्थाने स्थाने मूर्तिस्थापनयोगेन कीर्तिर्लब्धा। ततएव योगाभोगानुगामीति विशेषणद्वयं संगच्छते। एवम्भूतस्त्मेव ऐः। अतो दिग्जेता जेतृजेता शारदारवितरवतो द्विजभाजनजनिरित्यादिविशेषणैर्युक्तो भवानिति शेषः, जीयात्—पराभूयात् मूर्तिपूजनखण्डनपरान्, इति भावः। गकारस्य गाथाऽर्थकत्वे नियामकन्तु शब्दकल्पद्रुमे वचनं। तद्यथा—

"गो गौरी गौरवो गंगा गणेशो गोकुलेश्वरः।
शार्ङ्गी पञ्चात्मको गाथा गन्धर्वः सर्वगः स्मृतिः॥"

भावार्थ—हे विजय करने वाली जिह्वा वाले शास्त्रों से तीर्थंकरों की प्रतिमा सिद्ध करके शोभा (प्रसिद्धि) पाने वाले, तथा गाथा और सूत्रों के अनुकूल आचरण करने वाले, मति तथा प्रशंसा तथा सामर्थ्य के अनुसार मूर्ति पूजा का प्रचार करने वाले, कई शताब्दियों के अनन्तर इस प्रकार द्विजों को अभ्युदय प्राप्त कराने की सेवा के लिये जन्म धारण किये हुए, तथा विद्या पढ़ने पढ़ाने के अर्थ गुरुकुलादि के खोलने आदि के उपदेशों के दाता, कुतर्कवादियों के जेता, मूर्तिपूजा के खण्डनकर्ताओं के जेता तुम्हीं एक आये हो, अतएव अपने कुलवालों का भी उद्धार करने वाले, खलों के जीतने वाले, संसारी चरित्रों से दूर रहने वाले, अपनी लज्जा के सम्भालने वाले, शरीरधारियों की चिन्ता को मिटाने वाले, आप विजयी होवें॥ ६॥

अथ सप्तमोऽर्थः

दायादयात्री योगाभोगानुगामी जीयात्—

दायादाः—पुत्राः, यथा गार्हस्थानां पुत्रा दायादास्तथैव यमिनां शिष्या दायादाः, यानं या गतिर्मार्ग इत्यर्थः। दायादानां शिष्याणां या गतिरिति दायादयाः। "या प्रापणे" इत्यादिकाद्धातोः क्विप्, तस्य दायादयः

त्राणम् दायादयात्राः, सोमपावदाकारान्तः शब्दः, सोऽस्यास्तीति दायादयात्री, शिष्यमार्गमनुयानपर इत्यर्थः। दायादयापूर्वकात् "त्रैङ् पालने" इत्यस्मात् कर्मणि क्विप्, "अत इनिठनौ" इतीनिः प्रत्ययः।

अयं भावः—यद्यपि जैनसाधूनां काचिद्विशेषरूपेण सम्पत्तिर्नहि भवति, तथापि गुरूपदेशमार्गेण तत्तद्व्रतनियमादिपालनं तद्धर्मानुष्ठानं तदनुकूलमेव युवराजमहाराजादिपदवीप्राप्तिरेव, एतेषामपि दायो लोकैः राजव्यवस्थादिषुचापि मन्यत एव, तदधिकार्येषामपि दायादस्तस्य दायादस्य मार्गो—गुरूपदेशश्रवणं, तदाज्ञामनुधावनञ्च, तत्पालयितेत्यर्थः। अतएव योगाभोगानुगामी, योगास्तत्पालनार्थका उपायाः, योग उपायेऽपीति मेदिनीति पूर्वं निदर्शितम्, तेषां योगानां आ—ईषद्, भोगः—कौटिल्यम्, "भुज कौटिल्ये" इत्यस्माद् घञ्, योगाभोगमनु (हीनं मत्वा) गच्छतीत्येवंशीलः, जीयात्—निरवरोधतया स्वाधिकारेषूत्कर्षभाग्भवेत् (भूयात्)। अवशिष्टविशेषणानि यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—गृहस्थों के पुत्र पौत्रादि की तरह अपने गुरु की धर्मरूप सम्पत्ति का पालन करने वाले, तथा उनके सुयोग के उपायों में आने वाली कुटिलताओं के नाश करने में यत्नशील, विजयी जनों पर विजय पाने वाले, विघ्नरूप खलों के बल को दलने वाले,

तथा विचित्र लीला वाले, भली प्रकार सुशोभित जय से युक्त, अपने गुरु आदि देहधारियों की धर्म-रक्षार्थ आगामी चिन्ताको मिटाने वाले, और ब्रह्मचर्य से उत्पन्न हुए विशेष तेज से तेजस्वी, उच्चजाति में प्रादुर्भूत, सरस्वती देवी के विशेष पुजारी, श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें।

अथाष्टमोऽर्थः

खलबलदलनो योगाभोगानुगामी जीयात्—

खमाकाशः "खमिन्द्रिये पुरे क्षेत्रे शून्ये बिन्दौ विहायसि" इति मेदिनी। तस्मिन् खे—आकाशे रवो येषान्ते खरवाः मेघा। अत्र रवः शब्दः, "शब्दे निनादध्वनिध्वानरवस्वनाः" इत्यमरः। रलयोरैक्यात् खरवा एव खलवास्तेषां खलवानां लः इन्द्रः—खलवलो मेघराजः, "लश्चन्द्रः पूतना पृथ्वी माधवः शक्रवाचकः" इति शब्दकल्पद्रुमः। रलयोरैक्यपरं वचनन्तु—

"रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषाञ्च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः॥"

अन्यच्च—

"यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित्।"

इत्यलङ्कार-रहस्यविदः। तस्य खलवलस्य दलन-भयद इत्यर्थः, "दॄ भये" इति दीर्घर्कारान्तो धातुस्तस्मा-

द्धौवादिकान्नन्द्यादिलक्षणो ल्युप्रत्ययः, खलवलदलनो मेखराजस्यापि भापयितेत्यर्थः, इन्द्रोऽप्यस्य योगविभूतिभ्यो भीतः सर्वथास्याज्ञाकारक इवासीत् ॥

एतच्चित्रमत्रैवाऽऽम्बालयनगरे जैनमन्दिरस्य प्रतिष्ठावसरे महोत्सवार्थं सुसज्जीकृतस्य विविधवर्णैः पत्रपर्णादिभिरङ्कितस्य स्वचाकचिक्येनावर्जितसर्वजनीनमानसस्य समागतसभ्यजनोपवेशनार्थं परिष्कृतस्य सभामण्डपस्य रचनायास्तत्कालमेवैकत्रीभूतस्य मेघाडम्बरस्य धारासारैः सम्भावितसमूलनाशस्य भीत्या परिखिन्नमनस्कैः प्रबन्धकर्तृभिः सानुनयं साग्रहञ्चापि निरभ्रीकरणेन तद्रक्षार्थम्प्रार्थितेनानेन मुनिना, तत्क्षणमेवैकामभ्रंलिहां पताकां रचयित्वा तन्मध्यस्तम्भेन सहोच्चैस्तरां तां बद्ध्वा तत्प्रभावेण तद्बन्धनसमकालमेव निखिलमेवात्रत्यमाकाशमण्डलम्भानुभाभासितङ्कृत्वा नैर्मल्यन्नयता प्रदर्शितमिति नाविदितचरन्तत्कालिकानामम्बालयनिवासिनां किञ्चिज्जैनानाम् । एतद् द्रढयितुमेवाह—योगाऽऽभोगानुगामीति । योगः—सन्नहनम्—कवचधारणमित्यर्थः, स च मन्त्रमयो, यथा शास्त्रेषु देवीकवचं नारायणवर्म गोपालकवचमित्यादयः कवचा उपलभ्यन्ते, तथैव जैनग्रन्थेष्वपि सन्त्येव सूरिमन्त्रादयस्ते चापि योगविभूत्या निर्मिता भवितुमर्हन्ति । तस्य योगस्याऽऽभो-

गो—यत्नः "आभोगो वरुणच्छत्रे पूर्णतायत्नयोरपि" इति विश्वमेदिन्यौ, तत्र योगाभोगेऽनु—सादृश्येन—यथायोग्यत्वेन गच्छतीतिशीलो योगाभोगानुगामी, यत्र यत्र यादृशयादृशस्य योगस्याकाङ्क्षा वर्तते, तत्र तत्र तादृशतादृशस्य कवचस्य प्रयोगकर्त्तेति भावः । जीयात्—जीव्यादित्यर्थः, धातूनामनेकार्थत्वात् । तदुक्तम्—

"निपाताश्चोपसर्गाश्चधातवश्चेति ते त्रयः ।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषान्निदर्शनम् ॥"

अतः परञ्च द्विजभजनजनिरित्यादिकानि विशेषणानि यथान्यायं ज्ञेयानि ॥

भावार्थ—मेघों के राजा इन्द्र पर भी अपनी तपस्या के बल से शासन करने वाले, तथा सूरिमंत्रों के कवच (ज़िरहवक्त्र) से सुरक्षित रहने वाले, तथा अपने सेवकों को सुरक्षित रखने वाले, तथा मेघादि के हटाने में विचित्र लीला दिखाने वाले, इसी से अपने सेवकों की इज्जत बचाने वाले, वर्षा से उत्सवक्षेत्र के बिगड़ जाने के भय से उत्पन्न हुई चिंता को मिटाने वाले, ब्रह्मतेज से उत्कट तेजस्वी और द्विजों की कीर्त्ति को उत्पन्न करने के लिए भगवती सरस्वती देवी के चमत्कार से विशेष रङ्ग दिखाने वाले, इसी कारण दिगंतों के जीतने वालों को भी जीतने वाले, और विद्वानों से भी प्रतिष्ठा पाये हुए, श्रीविजयानन्द सूरि विजयी होवें ॥

(नोट) सुना जाता है कि जिस वर्ष अम्बाले में जैन मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी। उस समय उत्सव के लिये जो रङ्गभूमि (पण्डाल) की रचना की गई थी। वह कागज़ पत्र पन्ने के काम से बहुत सजाई थी। परन्तु जिस दिन उत्सव होना था, उस दिन प्रातः काल ही बड़ी भारी घनघोर काली घटाएं उमड़ आईं, मानों आज प्रलयकाल सदृश वृष्टि होगी, और सारा पृथ्वीतल जलमय हो जायगा, इसे देख कर सभी श्रावक बड़े भयभीत हुए, और महाराज से प्रार्थना करने लगे कि किसी तरह से यह वृष्टि टल जाय, तब श्रीगुरुमहाराज ने सवा गज़ लट्ठा मंगवा कर उसका त्रिकोण झण्डा बना कर, उस पर केसर से स्वस्तिक बनाया और केसर के ही कुछ छींटे दे कर मण्डप पर ध्वजा बना कर बन्धवा दिया। ज्यों ज्यों हवा से ध्वजा लहराने लगी, त्यों त्यों काली घटाओं का आडम्बर भी दसों दिशाओं को भागता हुआ नज़र आया, और थोड़ी ही देर में आकाश निर्मल हो गया, इस से सिद्ध होता है कि इन के प्रभाव से इन्द्रादि देवता भी प्रभावित रहते थे, इस उपरोक्त अर्थ में इसी घटना का दिग्दर्शन कराया गया है।

अथ नवमोऽर्थः

लोललीलस्वलज्जो योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र हि, ल—उ—ल इति छेदः, ल इत्यक्षरमम्वरार्थे—आकाशार्थे वर्तते, उः--तोयार्थे (वारिणि), पुनश्चलो दानादाने, तथा चैकाऽक्षरकोषोऽभिधानराजेन्द्रोऽपि—

"लो लवनेऽम्वरे वादे दानादाने सुखे मृते।"
आश्लेष आलये लूने इन्द्रे चापि स्मृतो बुधैः ॥इति।

तदित्थम् लेऽम्बरे, ओः—तोयस्य, लः—दानादाने, इति लोलः। कदाचित्सूर्यकरैर्भूमेराहृत्य जलमाकाशस्य दीयते, कदाचिच्चाकाशाद्वाऽदाय भूमौ सिच्यते दीयते। न च शंक्यम्—भूमावप्याकाशसद्भावात् ततो वहिर्नीयत इति, यतः सुश्रुतमतेन पञ्चैव महाभूतानि परस्परमनुप्रविष्टानि सन्ति, स्वस्वस्थाने द्रव्ये वा प्राधान्येन तेषां व्यक्तिः परिगणना च। तदुक्तं सुश्रुते—

"अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तलक्षणमिष्यते॥" इति

यथा हि भूमावाकाशसद्भावस्तथैवाकाशेऽपि भूमिसद्भावः, प्राधान्यन्तु भूमौ भूमेरेव, आकाशे—आकाशस्यैवेति न्याय्यत्वात्। तस्य लोलस्य लीला खेलः (नाटकम्) लोललीला, "लीलाम्विदुः केलिविलासखेलशृङ्गारभावप्रभवक्रियासु" इति विश्वः। लोललीला इव लीला यस्य तल्लोललीलालीलम्, लोललीलालीलञ्च तत्स्वम् (धनम्) लोललीलस्वं "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्" इत्यनेन लोललीलोत्तरपदस्य लीलाशब्दस्य लोपः, शाकपार्थिवादीनामाकृतिगणत्वात्। तस्माल्लोललीलस्वाल्लज्जते—विरमतीत्यसौ लोललीलस्वलज्जः, पचाद्यच्।

अयम्भावः—यथा जलं सूर्यरश्मिभिः प्रणीयमानं कदाचिद्भूमौ कदाचिदाकाशे बम्भ्रमीति नैकत्र तिष्ठति, तथैव धनमपि दैवेनातितराम् प्रणोद्यमानम् कदाचिद्राज-कोशेषु कदाचिच्च प्रजाकरेषु विचरति नैकत्र तिष्ठति। त-दर्थमेवोक्तम्—"मा गृधकस्य स्विद्धनम्" इति तस्मात्कार-णादेव सन्यासिभिस्तत्स्पर्शमात्रमपि निषिद्धम्। अतः सन्यासधर्माद्वहिर्भूतत्वात्तत्स्वीकरणम् लज्जावहमेव, तदेव परिपोषयत्युत्तरवचनेन योगाभोगानुगामीत्यनेन। योगः—अलभ्यलाभोऽलभ्यानां धनादीनां लाभः प्राप्तिरितिश्रीम-द्भगवद्गीताटीकायाम् श्रीधरस्वामी, तस्य योगस्य धनादि-लाभस्य—अभोगः—अनुपभोगः, [प्राप्तस्याप्यस्वीकारः] इति योगाभोगस्तं योगाभोगम् अनु—सादृश्येन यथार्हत्वेन गच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी॥

अयं भावः—यद्विद्याबुद्धिविनयादिसुबहुतरगुणैर्जुष्टस्य स्वभावेनैवालभ्यलाभः सम्भाव्यते, तत्समागतस्यापि धनस्य पैतृकसम्पतेर्वापि भोगं मुक्त्वा प्रव्रजितोऽयं महात्मा तदे-तादृक्षस्य महासत्वस्यैतदेव युज्यते, अयमेव (अनु) इत्य-व्ययस्य सादृश्यमर्थः। एवंभूतोऽप्ययं महात्मा पूर्वजन्म-कृतस्य कस्यचिदज्ञातपापस्यासत्फलोदयेन परमार्थयोगा-त्प्रच्यावितः सन् बन्धनभूमेर्धनादिसञ्चयप्रलोभनस्य प्रवृत्तीनां वशगो भूत्वा स्वलक्ष्यान्न पतेत्, प्रत्युत ताः

प्रवृत्तीरेव जीयात्—जयतु, अतः परं सर्वाणि विशेषणपदानि यथास्थानं स्वे स्व एवार्थे पूर्वोक्तक्रमेण बोध्यानि । इत्यलं विस्तरेण विद्वत्सु ॥

भावार्थ—जल तरङ्गों के सदृश चंचल धन के स्पर्श मात्र से भी घृणा करने वाले, साधु सम्पत्ति मात्र को स्वीकार करके अपनी जन्मभूमि की भी चिन्ता को त्यागने वाले, तथा ब्रह्मचर्य जन्य तेज से ही मस्त रहने वाले, द्विजों में केवल भजन के लिए ही उत्पन्न हुए हुए ज्ञान दर्शन चारित्र से पूर्ण, विजयी काम क्रोधादिकों पर भी विजय पाने वाले, दिगन्त जेता गुरुओं की सम्पत्ति को सुरक्षित रखने वाले, श्री विजयानन्द सूरि विजयी होवें ॥६॥

अथ दशमोऽर्थ

केदारौदास्यदारी योगाभोगानुगामी जीयात्—

केदारः—क्षेत्रम् भूमिप्रभेदो वा भूभाग इति यावत्, स च पितृक्रमागतः, तस्य केदारस्य—औं—रक्षणङ्केदारौः । "औ—इत्यव्ययं रक्षणे, सम्बोधने च" इत्यभिधानराजेन्द्रः, "वृद्धिरेचि" इत्यनेन वृद्धिः, तस्मिन्नव्ययत्वाद्विभक्तेर्लुक्, भूभागरक्षणे यदास्यं पराधीनत्वम् (तत्प्रबन्धविधाने व्यापृतत्वात् परवत्त्वमिति भावः) तत्केदारौदास्यम् । दरणं दारः (विदारणन्दूरीकरणमिति यावत्) "दॄ विदारणे" इत्यस्माद्धातोर्भावे घञ्, तस्य केदारौदास्यस्य दारः

केदारौदास्यदारः, सोऽस्यास्तीति—केदारौदास्यदारी, अतएव योगाभोगानुगामी । योगाः—युक्तयः "योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु" इत्यमरः, ता युक्तयश्चाप्येतत्सम्बन्धिन्य एव। कस्मिन् क्षेत्रे को नियोज्यः, कथञ्चासौ भूभागः समधिकफलप्रदः स्यादित्याकारिकाः, तेषां योगानां युक्तीनाम् आ—मर्यादया भोग उपभोगो व्यवहारोऽसौ योगाभोगस्तं योगाभोगम् अनु हीनं तुच्छं मत्वा गच्छति (स्म इति शेषः) इत्थंशीलो योगाभोगानुगामी । पूर्वार्थेङ्गितस्यैव स्पष्टाक्षरैः स्पष्टीकरणमेतत् 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायात् । प्रव्रज्याकाले स्वभूभागस्य प्रबन्धयुक्त्यादिकमनादृत्याऽक्रोशतो बन्धूंश्चाप्यनादृत्य प्रव्रजितोऽयं महात्मेत्यादिप्रशंसाजन्याभिमतिं जीयात् । अवशिष्टं यथापूर्वमिति ॥

भावार्थ—अपने पिता प्रपिता आदि की परम्परा से प्राप्त भूमि क्षेत्र गृह आदि के प्रबन्धार्थ उत्पन्न हुई चिन्ता को प्रव्रज्या (दीक्षा) रूपखड्ग से काटने वाले, केवल ब्रह्मचर्यरूपी धन से उत्कट धनी अर्थात् तेजस्वी, और मस्त रहने वाले, उस पैतृक सम्पत्ति की योजना की कुटिल गति से बचकर चलने वाले, द्विजों में नक्षत्र समुदाय की तरह देदीप्यमान गुणप्राप्ति के लिये जन्म धारण किये हुए, शास्त्रीय अनुरागों से रक्त, दिग्विजयी और लोभ पर भी विजयपाने वाले, बड़े-बड़े तर्कशील पुरुषों से

भी प्रतिष्ठा पाये हुए, अपने वंश को प्रसिद्ध करने वाले, लोभरूपी दुर्जन के बल को दलने वाले, लोभ की चंचल लीलाओं को भी अपने ज्ञान की छटा से लज्जित करने वाले, श्रीविजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥१०॥

अथैकादशोऽर्थः

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तो योगाभोगानुगामी जीयात्—

विगतं मलं यस्मात्स विमलः—अर्हन्, इतिहेमचन्द्रः। स विमल एव मधुः—मधुद्रुमोऽसौ विमलमधुः, तस्य विमलमधोर्मदः कल्याणवस्तु विमलमधुमदः "मदो नदे कल्याणवस्तुनि" इति धरणिः, तस्य विमलमधुमदस्य—उद्दाम—अप्रतिबद्धं, धाम प्रभावः तद् विमलमधुमदोद्दाम-धाम "उद्दामः प्रचेतसि, अप्रतिबद्धे, स्वतन्त्रे, महति" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, "धाम, गेहे, देहे, रश्मौ, स्थाने, आश्रये, जन्मनि, प्रभावे, त्विषि, ज्योतिषि, स्वयम्प्रकाशे, स्वस्वरूपे" इत्यपि शब्दार्थचिन्तामणिरेव, तेन विमलमधु-मदोद्दामधाम्ना प्रकर्षेण मथ्नाति—प्रधर्षयति विरुद्धपथानु-गान्नसौ विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्, प्रपूर्वकात् "मन्थ विलोडने" क्रैयादिकात्कर्तरि क्विप्, तस्य प्रमथो भावः प्रमत्ता "तस्य भावस्त्वतलौ" इत्यनेन तल् प्रत्ययः, तलन्ताः

स्त्रियां, सा विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्ता यस्याऽस्तीति—विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः, "अर्शआदिभ्योऽच्" इत्यच् प्रत्ययः ।

अयं भावः—अर्हन्—मधुस्रावी द्रुमः, यथा द्रुमाणां सकाशात् फलार्थिनो जनाः फलानि, काष्ठार्थिनोऽपि काष्ठानि, पत्रार्थिनः पत्राणि, त्वगर्थिनस्त्वचम्, छायार्थिनश्छायामेव लभन्ते, सामान्यतश्छाया तु सर्वेषामनुषङ्गादेव जायते । एवमर्हन्नपि, यं भावमुद्दिश्य जनाः एतच्छरणमायान्ति, तेषां ताँस्तान् भावान् पूरयति । तथापि हिंसोपरमणरूपा शान्तिस्तु सर्वेषामनुषङ्गादेवाविर्भवति, एषा शान्तिरेव कल्याणवस्तुरूपो मदः, तस्य विमलमधुमदस्यानिरुद्धतेजःप्रभावेणैवायं महात्मा परान् प्रधर्षयति, एतादृशीं शक्तिं दधदासीत्, (अर्हन्मतानुयायीति ध्वनिः) । अतएव योगाभोगानुगामी, योगः—अपूर्वार्थसम्प्राप्तिः, तस्य योगस्य—आभोगः परिपूर्णत्वं योगाभोगः, तं योगाभोगमनु (तेन सह) गच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । ततश्च द्विजभजनजनिरित्यादीनि विशेषणानि संयोज्य, जीयात्—उत्कर्षं भजेदिति योजनीयम् ।

भावार्थ—श्री अर्हन् देवके माधुर्यादि रसपूर्ण ज्ञानमार्ग पर गमन से उत्पन्न हुए बड़े तीव्र तेज से दूसरे मतानुयायियों को

धर्षित करदेने वाले, तथा नये नये अर्थों की रचना से अनुकूल मत का ज्ञान दर्शाने वाले, उच्च कुल तथा उच्च जाति में जन्म पाये हुए, अपने शास्त्र की विद्या में रङ्ग देनेवाले, देश देशान्तरों में जय पाने वाले, इसी प्रकार अपने वंश की प्रतिष्ठा करने वाले, प्रतिपक्षियों की चंचल लीलाओं पर सुशोभित जय पाने वाले, परदेश गमन के निरोध से उत्पन्न हुई चिन्ता को अपने शिष्यादिकों को भेजकर मिटाने वाले, श्री विजयानन्द सूरि जी विजयी होवें ॥११॥

अथ द्वादशोऽर्थः

अथाधुना विलोमगत्याऽस्यैव पदस्य तृतीयोऽर्थः पुनरपि प्रदर्श्यते ।

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तो योगाभोगानुगामी जीयात—

अत्र—उः—इः—इति छेदः, तत्र उः—इति तपसि, इः—इति गदे, गदो रोग इत्यभिधानराजेन्द्रः । तदित्थम्—औ तपसि य इः—गदोऽसौ विः, (तपश्चर्यायां मनागप्यनवधानेन रोगा जायन्ते) तस्य वेः (तपोजन्यरोगस्य) ये मला वातपित्तकफादयस्ते विमलाः, मनोमालिन्यकरत्वान्मला इति सञ्ज्ञा । आयुर्वेदे भणिता ते विमला एव मधवः-मधुदैत्यरूपाः ते विमलमधवः, तेषां मदः—उत्कर्षः विमलमधुमदः, "मद उत्कर्षे, उत्कर्षरहितत्वेऽप्युत्कर्षविशे-

पाध्यारोपे" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, विमलमधुमदम् उद्दाम्ना महता धाम्ना तेजसैव प्रमथ्नातीति विमल-मधुमदोद्दामधामप्रमत्, तस्य भावः तत्ता सा यस्यास्तीति विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः । तपउद्भूतरोगाणामपि तेजःप्रभावेणैव नाशयितेत्यर्थः । अतएव योगाभोगानुगामी, योग.—भेषजसमुदायः तस्य अभोगः—अनुपयोगः, (आ मर्यादया भोगो भोजनमिति वा) स्वस्य कृते विनिर्मिता-नान्तु अभोगः, अन्यैर्गृहस्थिभिस्तदर्थमुद्दिश्यानीतानाम-प्यभोग एव, अनुषङ्गात् प्राप्तानां श्रमणकैरानीतानामपि दिनशेष एव भोजनमिति मर्यादया भोगः । तं योगाभो-गमनु सादृश्येन—अर्हन्मतानुशासनानुकूलं गच्छतीत्येवं-शीलो योगाभोगानुगामी । ततएव केदारौदास्यदारीत्यादि-प्रथमव्याख्यार्थकानि विशेषणानि योजनीयानि । परतश्च जीयादिति–तपोभङ्गसमुत्पादकविघ्ननिचयं जयेदिति कवि-कामनाक्रान्तोऽयमर्थः । अनेनाधिव्याधिसमूहेऽप्यस्य प्रभुत्वं संसूचितमिति कृतं बहुना ॥

भावार्थ—तपश्चर्या में किसी भूल से उत्पन्न होने वाले रोगों की उत्कट वृद्धि को भी अपने ब्रह्मचर्य तेज से ही कुचलने वाले, आयुर्वेद तथा डाक्टरी आदि औषधियों का प्रयोग न करके ही अनुकूल जीवन बिताने वाले, द्विजों के भजन के लिये ही जन्म धारण करने वाले, तथा विद्या के प्रेमी तपोबल से दिशा

विदिशाओं में विजय प्राप्त करने वाले, प्राणीमात्र को जीतने वाले उत्कट शत्रुओं (क्षुधातृषादि) को भी व्रतादि से जीतने वाले, इसी लिये बड़े-बड़े व्याख्याताओं से भी प्रशंसा किये हुये, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें ॥१२॥

अथ त्रयोदशोऽर्थः

केदारौदास्यदारी योगाभोगानुगामी जीयात्—

कः आत्मा, इः—ज्ञानम् । तथा चैकाक्षरकोषः—"को ब्रह्मात्मप्रकाशार्ककेकिवायुयमाग्निषु", "ईः कम्पे सायके सर्पे ज्ञाने पद्मदलेऽपि च" । कस्य—इः—केः—आत्मज्ञानम्, तम् कयम् ददाति इति केदः, आत्मज्ञान-दातेत्यर्थः । तत्सम्बुद्धौ—हे केद ! । औः—विरोधः, "औः—सम्बोधने विरोधे निर्णये शूद्रप्रणवे च" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । तम् आवम् विरोधं दायन्ति शोधयन्ति ते—औदाः, औपूर्वकाद् "दैप् शोधने" इत्यतः क्विप् । परस्परविरोधनिवारका उपदेष्टार आत्मज्ञानिनेति भावः । तेषामौदानाम् आस्यं मुखं दृणाति—व्यादत्ते आश्चर्येण विदारयतीत्येवंशीलः । अत्रान्तर्भावितणय-र्थो दृः । औदास्यदारो भवान्—आर आयातः प्राप्तो वा, "ऋ गतौ" इत्यस्य लिटि प्रथमपुरुषैकवचने

रूपमेतत् ॥

अयं भावः—हे केद ! (आत्मज्ञानप्रद !) त्वत्तः पूर्वमपि बहव उपदेष्टारो विरोधनिवारका आसन्, परं बहुप्रयतमानैरपि तैः साफल्यं न प्राप्तम् । सम्प्रति तु त्वदात्मज्ञानोपदेशेन सर्वो विरोधो नष्ट इति हेतुनाऽश्चर्य्येण मुखं व्यादानास्तिष्ठन्ति ते । तेषामपि चेतांसि चित्रयितुम् भवानायात इत्यर्थः । यतो भवान् योगाभोगानुगामी, योगः निष्कामकर्म, "योगो निष्कामकर्मणि" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । तस्य योगस्य निष्कामकर्मणः—आभोगः परिपूर्णता तेन योगाभोगेन—अनु (सह) गच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । ततश्च प्राथमिकार्थविशेषणानि संयोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः ॥

भावार्थ—हे आत्म ज्ञान के देने वाले गुरुदेव ! उपदेश द्वारा परस्पर विरोध के मिटाने वाली शिक्षाओं के दाता, पूर्व उपदेष्टाओं के प्रयत्न करने पर भी उस में सफलता न प्राप्त होने से तथा उसी कार्य में अनायास ही सफलता दर्शाकर उन पूर्व उपदेष्टाओं को हक्का बक्का बना देनेवाले, आपही आये हैं । क्योंकि आप पूरे मनोयोग से निष्काम कर्म करने के मार्ग पर चलने वाले हैं इसी आत्म ज्ञान से ही द्विजों की सेवा करने के लिये जन्म धारण किये हुये, इसी विद्या के रङ्ग में पूर्ण राग वाले, दिगन्त जेता, जेताओं के भी जेता, आत्म ज्ञान की विद्या के विद्वानों से भी

प्रतिष्ठा पाये हुये, और गुरुजनों की इस विद्या के प्रचार करने वाले, संसार की विचित्र लीलाओं (खेलों) को स्वयं लज्जित करने वाले अर्थात् उनमें मुग्ध न होने वाले, श्री विजयानन्द सूरि जय को प्राप्त करें ॥१३॥

अथ चतुर्दशोऽर्थः

लोललीलस्वलज्जो योगाभोगानुगामी जीयात्—

लोललीलस्वलज्ज इति पदच्छेदेन विशेषणद्वयमत्र विभावनीयम् । लः—आश्लेषः, "लो लवने, मृते, लूने, आश्लेषे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । उः—व्यसनम्, "उः शिवे, ब्रह्मणि, वितर्के, तपसि, व्यसने" इत्यपि स एवाभिधानराजेन्द्रः । ललनं ललः प्रीतिः, "लल् प्रीति-सेवनयोः" इत्यतो घञर्थे कः । तदित्थं—लस्याऽऽश्लेषस्य (आसमन्तात्पदे पदे श्लेषस्य--अनेकार्थवाचकशब्दप्रयोगस्य) उः—व्यसनं स्वाभाविकप्रवृत्तिः (शौक इत्युर्दूभाषायाम्) इति लोः श्लेषपरत्वं, तस्य लोः आश्लेषव्यसनस्य ललः—प्रेम लोललः, सोऽस्यास्तीति लोलली, "अत इनि" इत्यनेनेनिः । सर्वत्रवाग्विलासे श्लेषप्रेमीति भावः । ईदृशः कश्चित् क्वचिदेवपुण्यात्मा जायते । तदुक्तम्—

"प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः ॥
भवन्ति कृतपुण्यानां मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ॥" इति

लः—चन्द्रमाः, "लश्चन्द्रः पूतना पृथ्वी माधवः शक्र-वाचकः" इतिशब्दकल्पद्रुमः, "सु—इत्यव्ययं प्रकर्षार्थे" "अल् भूषणे" इत्यस्य शत्रन्तप्रयोगः—अलत्, "जस्तेजसि" इत्यभिधानराजेन्द्रः । तदेवं सु—सुष्ठ् (सुतराम्) अलदिति स्वलत्, लः—चन्द्र इव स्वलत् इति लस्वलत्, लस्वलत् जः (तेजो) यस्याऽसौ लस्वलज्जः—चन्द्र इव शान्ततेजस्वीत्यर्थः । ततश्च योगाभोगानुगामी, "योगः—अघटघटनासामर्थ्याऽतिशये" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, तस्य योगस्याऽऽभोगः परिपूर्णता योगाभोगः, तस्य योगाभोगस्य—अनु (पश्चात्, पृष्ठतो वा) गच्छतीत्येवञ्छीलः । विचित्रघटनाघटक-शक्तिबहुलतामनुसृत्य विहरणशील इति भावः । अतः परश्च खलबलदलन इत्यादीनि विशेषणानि नियोज्यानि । ततो जीयादिति ॥

भावार्थ—एक एक शब्द के व्याकरण तथा कोशादिकों से अनेक अर्थ निकालने तथा अनेकार्थों में एक शब्द का प्रयोग करने के स्वभाव वाले. तथा अप्रतीत अर्थों को भी विचित्रता से निकालने वाले, जैसे कि तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रन्थमें गायत्री के कई अर्थ दिखाये हैं, इसी से विद्या के विनोद से प्रभावित, और जैन सम्प्रदाय की कान्ति को दीप्त करने के लिये आये हुए और दिशा विदिशाओं में जैन धर्म की विजय पताका लहराने वाले, यवन,

ईसाई आदि मतानुसारी जेताओं के भी जेता, उनसे भी यथा-सम्भव पूजे हुये, अपने गुरूपदिष्ट मत के फैलाने वाले और भारत-वर्षीय जैन सम्प्रदाय की चिन्ता को मिटाने वाले ब्रह्मचारी श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽर्थः

ग्वलबलदलनो योगाभोगानुगामी जीयात्—

खः—इन्दुः, लः कला, व इवार्थकः शब्दः, लः—अमृतम् । "खः सूर्ये, वितर्के, दिवि, इन्दौ" इत्यभिधानराजेन्द्रः । शब्दकल्पद्रुमे—

"लश्चन्द्रः पूतना पृथ्वी माधवः शक्रवाचकः ।
बलानुजः पिनाकीशो व्यापको मांससंज्ञकः ॥
खड्गी नादोऽमृतं देवो लवणं वारुणीपतिः ।
शिखा वाणी क्रिया माता भामिनी कामिनी प्रिया ॥
ज्वालिनो वेगिनी नादः प्रद्युम्नः शोषणो हरिः ।
विश्वात्ममन्त्रौ बली चेतो मेरुर्गिरिः कला रसः ॥"

व इवार्थे इति मेदिनी, तथा च रघुवंशे महाकविकालीदासः, चतुर्थसर्गश्लोक ४२—

"ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽपानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥"

तदेवं खस्य—इन्दोः लः—कला व—इव लस्य—अमृतस्य दलनो—विशरणः—वर्षण इत्यर्थः। "दल् विशरणे" इति भौवादिकान्नन्द्यादिलक्षणो ल्युप्रत्ययः। यथेन्द्रो कलाऽमृतं जगति सिञ्चति, तथैवर्हन्मतरूपाकाशादिन्दुकलावदयमपि ज्ञानोपदेशामृतवर्षाङ्करोतीति भावः॥

योगाभोगानुगामी—योऽयं गाभः, गः—गन्धर्व इव आभा शोभा यस्य सः—गाभः, गन्धर्वो देवानामुत्तमजातीयो देवः। अथवा गः—गणेशः—विघ्ननिवारकः, तस्य गणेशस्य—आभा—इवाभा यस्य स गाभ इति भिन्नमेव विशेषणम्। पुनश्च गानुगामी, गः—सर्वगः (सर्वेषु गतः) कर्म, तत् गम् (कर्म) अनुगच्छतीत्येवं शीलं यस्येति योगाभोगानुगामी कर्मानुगामी (कर्मवादी)। अतश्च दायादयात्रीत्यादीनि विशेषणानि सन्नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः॥

भावार्थ—चन्द्रमा की कला के सदृश शीतल तथा अमरपद प्राप्त कराने वाले धर्म की वर्षा करने वाले, और गन्धर्व की तरह धर्म के ही रागको आलापने वाले, धर्मोपदेश से ही द्विजों की सेवा करने वाले, धर्म से ही दिशाओं को जीतने वाले, तथा इन्द्रियों

पर विजय पाने वाले, मन को भी जीतने वाले, धर्म वेत्ता विद्वानों से भी प्रतिष्ठित, अपने कुल मर्यादा को प्रतिष्ठत रखने वाले, चंचल लीलाओं से दूर रहने वाले, देशविशेष में निवासादि की चिन्ता को छोड़ने वाले तेजस्वी विजयानन्द सूरिवर विजयी होवें ॥१५॥

अथ षोडशोऽर्थः

दायादयात्री योगाभोगानुगामी जीयात्—

दः—दीप्तिः, आयः—आगमः, आ—अभिमुख्यार्थे, दः—चालनम्, यात्रा—प्राणनम् । तथा च विश्वदेव-शम्भुमुनिः—

"दो दाने पूजने चीणे दानशौण्डे च पालके ।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे दोर्भुजे दीर्घदेशके ॥१॥
दयायां दमने दीने दन्दशूके च दः स्मृतः ।
बद्धे च बन्धने बोधे बाले बीजे बलोदिते ॥२॥
विदोषेऽपि पुमानेष चालने चीवरे वरे ।
दाऽऽबन्तो दिवि गङ्गायां कुले कालकृते च दा ॥३॥
उपदायाश्च नैवेद्ये निर्नाथवनिता च दा" ॥ इति ॥

तदेवं दाय दीप्त्यै प्रकाशप्रचाराय आयः—आगमो

यस्य (संसृतिमहोदधाविदति शेषः) असौ दायः। पुनश्च आ—अभिमुख्यं यथा स्यात्तथा दाय—चालनार्थमेव यात्रा—गमनम्—प्राणनम्—जीवनममिति यावत् यस्यासौ—आदयात्री, दायश्चासौऽऽदयात्रीति दायादयात्री। स्वोपदिष्टशिष्यसमुदायस्य स्वाभिमुख्येन चालनार्थं विहारवानित्यर्थः ॥

योगाभोगानुगामी—योऽयम् अगस्य कुटिलगतेः अभोगमनुपयोगम् अनुगच्छतीति शीलवान्। "अग वक्रगतौ" इति कविकल्पद्रुमः, अव्याजगतिमानित्यर्थः। अतएव खलचलदलन इतिपूर्वोक्तार्थविशेषणमप्यस्मिन् जाघटीति। ततश्चान्यान्यपि विशेषणानि यथापूर्वं योजनीयानि, ततश्च जीयादित्यनेनान्वयः, इत्यलम् ॥

भावार्थ—जैन मत की विशेष दीप्ति (रोशनी) के प्रचार के लिये ही उत्पन्न हुए हुए, तथा अपने शिष्य सम्प्रदाय में भी पैरों से ही यात्रा करने की मर्यादा स्थिर रखने के लिये पैदल ही यात्रा करने वाले, तथा कुटिल गति (धोका आदि) का व्यवहार न करने वाले, और खल (धोका बाजों) के दम्भ को समझ कर उनके बल को दलने वाले, धोके की लीलाओं से उनको स्वयं लज्जित करने वाले तथा उन धोका देने वालों की अपने शरीर पर पश्चात्ताप से हुई हुई उदासीनता को सदुपदेश द्वारा मिटाने वाले,

इस प्रकार द्विजों को कुटिल गति से बचने के लिये ही जन्म पाये हुये, तथा उनको विद्या में लगाने के रङ्ग में रङ्गे हुयें दिग्विजयी तेजस्वी ब्रह्मचारी श्री विजयानन्द सूरि जी विजय प्राप्त करें॥१६॥

अथ सप्तदशोऽर्थः

जेतृजेता योगाभोगानुगामी जीयात्—

जेतृजेता, जयन्तीति—जेतृणि इन्द्रियाणि, "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभम्मनः" इत्युक्तेर्मनसि हृते-सर्वेऽनर्थाः सम्भवन्ति, इन्द्रियाणि शरीरमपि घ्नन्ति। यथा चोक्तम्—

"कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथन्न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥"

तेषामिंद्रियाणामपि जेता—जयनशील इति भावः। ततश्च खलबलदलनः, खानि—इन्द्रियाणि, "खः सूर्ये, नृपे, परब्रह्मणि, इन्द्रिये, पुरे" इत्याद्यभिधानराजेन्द्रः। तेषां खानां लः—इन्द्रः स्वामी राजा वाऽसौ खलो मनः, तस्य मनसोऽपि (खलस्य) बलं दलयतीत्यस्मिन्नर्थे खलबलदलनः। अतो योगाभोगानुगामी, योगोऽन्तःकरणशुद्धिरूपम् वैराग्यम, तस्य योगस्य वैराग्यस्य—आ—समन्तात् (सर्वथा) भोगः पालनम् तमनु-

सृत्य गच्छतीत्येवं शीलम् यस्य स योगाभोगानुगामी । ततश्चापराणि विशेषणानि सन्नियोज्य,जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः ॥

भावार्थ—इन्द्रियों पर विजय पाने वाले और इन्द्रियों के राजा मन पर भी विजय पाने वाले, तथा अन्तःकरण की शुद्धि सदैव बनाये रखने वाले, दैव योग से प्राप्त जैसे कैसे ही भोजनादि पर सन्तोष रखने वाले, इसी प्रकार सन्तोष की शिक्षा से द्विजों की सेवार्थ पधारे हुये, सन्तोष से असन्तोष पर दिग्विजय किये हुये, बड़े बड़े विद्वानों से स्तुति किये हुये, चंचल भावों को भी अपने आप से ही लज्जित करदेने वाले, पार्थिव शरीर की चिन्ता को दूर करने वाले, विशिष्ट ब्रह्मचर्य से विशिष्ट तेजस्वी श्री विजयानन्द सूरि जी विजयी होवें ॥१७॥

अथाष्टादशोऽर्थः

दिग्जेता योगाभोगानुगामी जीयात्—

दिग्जेता—दिक्षु जस्य-मुक्तेः—ईः-आनन्दो लक्ष्मी-र्वेति दिग्जेः, तम् दिग्जयम् तायते सन्तनोति पालयति वा दिग्जेता। यः—अगाभः—पर्वतोपमः, अचलनिश्चयः। अगेन—पर्वतेन—आभा—उपमा यस्याऽसौ—अगाभः। गः—स्मृतिः, गकारोक्तकोषानुकूलत्वात्, स्मृतिर्धर्म-शास्त्रम् तमनुगच्छति—अनुसरतीत्येवं शीलम् यस्या-

सौ गानुगामी । ततश्चेतराण्यपि विशेषणानि यथास्थानं नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—दिशाओं और विदिशाओं में मुक्ति के आनन्द को देने वाले, जैन धर्म की शिक्षा को फैलाने वाले, क्योंकि पर्वतों की तरह अटल निश्चय रखने वाले, अतएव धर्म शास्त्रों के बताये हुये मार्ग से एक पदमात्र भी न टलने वाले, तथा द्विजों की भी ऐसी अटल शिक्षा से सेवा के लिये जन्म पाये हुये, मोक्षमार्ग की विद्या के रंग में अच्छी तरह रँगे हुये, तथा मोक्षमार्ग में आने वाली बाधाओं पर विजय पाने वाले, अनेक जीवन सुधारकों से भी स्तुति किये हुए, अपने कुल परम्परा वालों को भी मुक्ति दिलाने वाले, खलों के बलको दलने वाले, विचित्र लीलाओं को लजाने वाले, मुक्तिक्षेत्र की चिंता को मिटाने वाले ब्रह्मवर्चस्वी श्री विजयानंद सूरि जी विजय प्राप्त करें ॥१८॥

अथोनविंशोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो योगाभोगानुगामी जीयात्—

शारदा, रक्तिरक्तः, इति विशेषणद्वयम् । शारं—दौर्बल्यं द्यति—खण्डयत्यसौ शारदाः । शारपूर्वकात् "दो खण्डने" इत्यतः कर्त्तरि क्विप्, "आदेच उपदेशेऽशिति" इत्यात्वम् । "शॄ हिंसायाम्" इत्यतो भावे घञ्, शरणं शारः "शारो दौर्बल्यम्" इति कविकल्पद्रुमः । रक्ति-

रक्तः—रक्तयो गुञ्जाः, तासां रक्तत्वं सर्वत्र जगति प्रसिद्धमेव, अतो रक्तिभ्योऽप्यधिकरक्त इति रक्तिरक्तः।

श्रूयते किल कदाचित्पुरा दुर्भिक्षसमये स्वसम्बन्धिनामाश्रयस्यादानात् रक्तीनां मुखे कालिमा समुत्पन्नः। भवतु येन केनाऽपि कारणेन कालुष्यलगनात् रक्तीनां रक्तत्वे त्रुटिरस्त्येव, परमस्य रक्तत्वे त्रुटिर्नास्ति, अतो रक्तिभ्योऽपि रक्त इति कथनात् सर्वथा रक्त इत्यर्थः। इदं वचनं लोकोक्तिपरं। लोके यथा यः कश्चित् कदाचित्कथञ्चिद्धर्मसङ्कटे पतितोऽपि सुदृढनिश्चयेन ततो निष्कलङ्को निस्सरति, तदा तं लोकभाषया (लाल का लाल रहा) इत्यभिदधति लोकाः, (धर्मसङ्कटपरीक्षायाम्) सुतरां परिशुद्ध इति भावः।

योगाभोगानुगामी, यः—गाभोग इति छेदः। गाः सर्वाः सिद्धयो, गकारकोषानुगतोऽयमर्थः। तेषां गानां (सर्वसिद्धीनाम्) आ—मर्यादया भोगः—उपयोगो गाभोगः, तं गाभोगम् अनु—सादृश्येन गच्छतीतिशील इति गाभोगानुगामी, सर्वसिद्धीनां यथास्थानं प्रयोगकर्त्तेत्यर्थः। यथा—

अत्रैव अम्बालये मन्दिरप्रतिष्ठाऽवसरे जैनबन्धूनां क्वाप्यन्यत्रापि विशेषोत्सवसत्त्वात् सम्मेलनेऽतीवस्वल्पसङ्ख्यायाम् मानवसमागमं प्रत्याशाऽभवत्, तथापि श्री संघेन स्वबुद्धावनुमाय विशेषभोजनसामग्री सज्जीकृता, पर-

प्रसक्तोत्सवदिवसे प्रमाणसंख्यातः त्रिगुणितोपस्थितिरभूत्। ततश्चातीवोद्विग्नचित्तास्ते महात्मनः सकाशं गत्वा प्रोचुः—"महाराज ! महत्येव क्षतिरस्माकं जनिष्यते चेत्सर्वेषां भोजनं पर्य्याप्ततया देयं न स्यात्, नैव चैतत्सम्भवति यदेकस्मिन्नहन्येवैतावत्परिमितं भोजनं सज्जीभवेदिति। यदि येन केनाप्युपायेन मिष्टान्नेन पूर्तिर्भवेत्तदा कच्चोदरी-पूरिकादीनां प्रबन्धं विधातुन्तु वयं कथङ्कथमपि पारयेमेति" तत् श्रुत्वा महात्मनोक्तम्—यत्स्थाने यावत्परिमितायां भूमौ न्यस्तं मिष्टान्नमस्ति, तत्संवरणक्षमम् एकं कर्पटं श्वेतं नवीनं समानयत, तैस्तथैव कृतम्। ततश्च तस्मिन् वस्त्रे किमपि स्वस्तिकरूपं तन्त्रं निर्माय भोज्यमिष्टान्नोपरि संवरणं कारितं तेनैव महासत्त्वेन, उक्तञ्च कार्य्यसमाप्त्यवधिर्नैतदुद्घाटनीयम्, एकपार्श्वतः कियन्मात्रं वस्त्रमुत्थाप्य हस्तेनाकृष्यैकेनैवाभ्यन्तरस्थेन पुरुषेणान्येषां परिवेषयितॄणां दातव्यमिति, तथाकृते तेषां सर्वेषां त्रिदिनावधि यावच्छक्यमुदरंपूरं पूरं भोजयित्वाऽपि भोज्ये समाप्तिं नैवापश्यंस्ते श्रावकाः। ततश्च सर्वस्मिन् पत्तने प्रतिविपणि तैरेकपुरुषतृप्तिक्षमं भोजनमदायि, ततोऽपि न समाप्तं तन्मिष्टान्नम्। अन्ततो विक्रेतुमारब्धवन्तस्ते, एतद्दुरुपयोगं दृष्ट्वा केनाऽपि महात्मनां सविध आख्यातम्, तैरभिहितम् तत्कर्पटमाकृष्यानयतेति, तथाकृते तत्र सञ्चरन्त्यःपिपीलिका एव

दृग्गोचरतां गता नान्यत् किमपि। वृत्तमेतद् दृष्ट्वा तत्सामयिकाः सर्वेऽपि श्रावका अतीव श्रद्दधिरे तत्रेति नाज्ञातरूपं तत्कालिकानां भावुकानां। अतोऽनुमीयते सर्वासामणिमादिसिद्धीनामुपयोगोऽप्यस्यासीत्। अतएव गाभोगानुगामी तिविशेषणं युक्तरूपम्, योऽयं गाभोगानुगामी स जीयादित्यनेनान्वयः। ततश्चान्यानि विशेषणान्यपि यथायथं संयोजनीयानि ॥

भावार्थ—किसी धर्म संकट में पड़कर भी दुर्बलता का आश्रय न लेकर, अपनी परीक्षा में पूरे उतर कर सभी सिद्धियों को प्राप्त करके, उनकी मर्यादा के अंदर रह कर अपने सदृश ही जीवन में व्यवहार करते हुए, उन सिद्धियों का समय समय पर प्रयोग करने वाले, और द्विजों की भी सिद्धियों से यथावसर सेवा करने के लिये आये हुए ऐसी विद्या के पूर्ण भाव से भरे हुए, दिग्विजयी स्थिर रहने वाले, अपने श्रावकों के भी आतुरभावों पर धैर्य से विजय पाने वाले, धैर्यमूर्ति बड़े बड़े धीरों से प्रशंसा किये हुए, अपने कुलवालों का भी धैर्य बनाये रखने वाले, अधीरतादि खलों के बल को दलने वाले, विचित्र चरित्र वाले, अपनी और अपने आदमियों की लज्जा रखने वाले, जिस स्थान पर आप रहते थे वहाँ के रहने वालों की भी चिंता को दूर करने वाले, तेजस्वी विजयानंद सूरि जी सर्वत्र विजय को प्राप्त होवें ॥१६॥

नोटः—यहाँ शहर अम्बाला में भी जैन मंदिर की प्रतिष्ठा के समय पर यथारीति अन्यान्य नगरों के भाइयों को आमंत्रण-पत्र भेजे गये और यह अनुमान किया गया कि अन्यत्र भी किसी उत्सवविशेष के कारण यहां बहुत थोड़े भाइयों के आने की आशा है, तो भी सुज्ञ श्री संघ ने अपने अनुमान प्रमाण से विशेषतर भोजनादि सामग्री का प्रबंध किया, किंतु उत्सव के दिन अनुमानित संख्या से तीन चार गुणे अधिक आदमियों की भीड़ होगई, जिनका प्रबंध इतनी जल्दी होना असंम्भव-सा प्रतीत होने लगा। यह देखकर प्रबंधकर्ता समुदाय ने आचार्य महाराज श्री विजयानंद सूरिवर से निवेदन किया और महाराज साहिब ने उत्तर में कहा कि जितनी जगह में तुम्हारा भोजन का सामान पड़ा हुआ है, उस सारे को ढक रखने लायक़ एक लट्ठे की चादर बनाकर लाओ, वैसा ही किया जाने पर, महाराज ने चार साथिये (स्वास्तिक) चारों कोणों पर, और पाँचवाँ मध्य में केसर के रंग से बनाकर और कुछ छींटे देकर कहा कि जाओ भोज्य-पदार्थों के ऊपर डाल दो, और इस चादर के नीचे हाथ डालकर पदार्थ निकालकर बर्ताते रहो, चादर को मत उठाना। उन लोगों ने वैसा ही किया। सारे भाइयों को भी यथेच्छ खिलाया-पिलाया और अम्बाले शहर की सब हिंदू मुसलमानों की दुकानों पर एक एक परोसा दिया, परंतु जब उससे भी सामग्री समाप्त न हुई तब किसी और प्रकार का दुर्व्यवहार होने लगा, जिसको देखकर किसी श्रावक ने महाराज साहिब के पास जाकर सूचना दी, तब महाराज ने कहा कि तुम वह चादर उठा लाओ। उस श्रावक ने

ज्योंही झपटकर वह चादर उठाई, तो उसके नीचे से दस-बीस भूरी चींटियें फिरने के सिवाय और कुछ नज़र नहीं आया। इस उपरोक्त अर्थ में इसी घटना का दृश्य दिखाया गया है ॥

अथ विशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र द्विज—भजन—जनिरिति छेदः, द्विजाः शूद्रातिरिक्ता वर्णाः, भः—ज्ञानम्, जननं जनः—उत्पादनम्, अन्तर्भावितण्यर्थस्य साक्षाद्णिजन्तस्यापि वा प्रयोगोऽयम्बोध्यः, तस्यैवाभीष्टत्वात्। ततश्च जनिर्जन्म, भस्य जनः प्रादुर्भावो भजनः,घञर्थे कः। भजनाय जनिर्यस्यासौ भजनजनिः,द्विजानां भजनजनिरिति द्विजभजनजनिः। यद्वा द्विजेषु भजनाय जनिर्यस्याऽसौ द्विजभजनजनिरिति समुदितस्यैव समासो विधेयः। द्विजेषु—अज्ञानग्रस्तेषु ज्ञानप्रचारार्थमेव जात इत्यर्थः। "भो भासि,छवौ,रोचिषि,ज्ञाने च" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, अभिधानराजेन्द्रश्च। यद्वा द्विजानां भासार्थमेव जात इत्यर्थ एव बोध्यो, यतः स्वधर्मनिष्ठस्यैव जनस्य सर्वस्येहामुत्र चापि शोभा कल्याणं वा सर्वसौख्यमेव, सर्वसुखी च सुतरां शोभत एव तदर्थं ज्ञानार्थमेव वासौ योगाभोगानुगामी। योगो विश्रब्धघातकः, स च नीचप्रकृतिकः पुरुषः। तेषां विश्रब्धघातिनां पुरुषा-

णाम् आ—आभिमुख्य एव स्वसाक्षादेव भोगः कौटिल्यम् वक्रगतिर्योगाभोगः, तं योगाभोगम् अनु—हीनम् तुच्छं मत्वा—अविगणय्येति यावद् गच्छति [नगरान्नगरम् तेषां सुधारणार्थमेव गच्छति] इति शीलवान् योगाभोगानुगामी। (ननु) यथा सत्सङ्गतिः सत्फलप्रदा, तथैव दुष्टसङ्गतिरपि दुष्फलकरा भवत्येव। अतो यदि महात्मनां सङ्गात् विश्रब्धघातिनां नीचत्वमपसरेदिति सम्भावना स्यादपि, तर्हि महात्मस्वपि दुष्टसङ्गतेः फलम् दुर्वारमेवस्यादिति न च वाच्यम्, यतः पूर्वमेवैषा शङ्का महर्षिभिर्निरस्ता। तदुक्तम्—

"सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानाम्।
साधूनां नहि खलसङ्गतः खलत्वम्॥
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते।
मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयन्ति॥" इति

अतएव च खलबलदलन इत्यादिप्रथमार्थोक्तानि विशेषणानि सङ्गन्तुमर्हन्ति। तानि च यथायथमन्वीय जीयादित्यनेनान्वयः॥

भावार्थ—द्विजों में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करने के लिये, तथा विश्वासघाती दम्भियों की टेढ़ी चाल से सावधान करने के लिये जहाँ तहां फिरते हुये, नगरों और शहरों, ग्रामों में सद्विद्या के

उपदेशों से अपना रङ्ग चढ़ाने वाले, विश्वासघातियों को दिगन्तों तक जीतने वाले, अन्त में उन्हीं सुधरे हुए दम्भियों से पूजे हुए, ऐसे खलों के बल को दलने वाले, विचित्र चंचल (विकट) चरित्र वाले दुर्जनों से अपनी लज्जा बचाने वाले, "ऐसे दुर्जनों के मैदान में हमारा काम न हो सकेगा" ऐसी चिन्ता को पास तक न आने देने वाले ब्रह्मचर्य से तीव्र तेजस्वी श्री विजयानन्द जी विजय को प्राप्त करें ॥२०॥

अथैकविंशोऽर्थः

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः
शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

यः—अगाभः—गानुगामी इति छेदः। योऽयमिति निर्दिष्टः, अगो वृक्षः, "अगः स्यान्नगवत्तरौ" इतिहैमोक्तत्वात्। अगेन—आभा—उपमा यस्यासौ अगाभः—वृक्षसदृशः। स चापि कल्पवृक्षस्तत्सादृश्येन सेवकजनकामनापूरकत्वात्। ततश्च गानुगामी, गः—धरायामपीति तु कोशे प्रदर्शितमेव, "गः गीतं सरस्वती विद्या भोगिनी नन्दनो धरा" इति शब्दकल्पद्रुमोक्तत्वात्। गे धरायामनुक्रमेण गमनशीलः। अत्र वृक्षास्त्वगमनादेव—अगा अभिधीयन्ते, अयञ्च गमनशीलः। तत्कथं सादृश्येन वर्णनमिति विरोधाभासः प्रतीयते, परं फलप्रदत्वेन तत्साम्यमिति विरोधोऽपह्रियते। अथवा दुर्वृत्तेरगमनात्तत्साम्यमिति न विरोधः,

एकाङ्गत्वेनोपमा । "आभा—उपमायाम् कान्त्याम्" इति शब्दार्थचिन्तामणिः । एवमेवापरत्रापि द्विजभजनजनिः, द्विजः—द्वाभ्यामेव मातापितृभ्याम् जातो न तृतीयात् जारादित्यर्थः, अत्र तु निश्चितार्थतापरं, भजनजनिः, भम् भ्रान्तिम् (अनिश्चयम्) जनयतीति भजना, "भो भ्रांतौ" इत्यभिधानराजेन्द्रः, भजना जनिर्यस्यासौ भजनजनिः । इहापि विरोधाभासो भ्रान्तिजनकवर्णितत्वात् । तत्तु देवोऽयं मनुष्यो वा इत्यात्मिकया भ्रान्त्या दोषो निरस्यते, भजनाय (भगवद्भजनाय) जात इत्यर्थेनापि निर्दोषत्वम् । एवमेव शारदारक्तिरक्तः, शारः—हिंसनम्, शॄ हिंसायामित्यतो घञि रूपमिति शब्दकल्पद्रुमः । शारं हिंसां ददातीति शारदः, कर्त्तरि क्विप् । अतएव रक्तिरक्तः, रक्तिः—रक्तिमा सापि रक्तस्यैव, तया रक्तः, हिंसकस्य सैव युज्यते। इहाऽपि चरित्र्यविरोधाद् विरोधाभास एव । स चापि "दैप् शोधने, दो खण्डने" इति धातुद्वयस्य मध्यादेकतरस्य प्रयोगान्निवार्यते । शारं द्यति—दायति वाऽऽसौ शारदा, तस्मिन्नारक्तिरक्त इत्यनेन विरोधो निरस्तः । अनया रीत्या क्वचित् क्वचित्कविना विरोधाभासोऽपि दर्शितः । तन्निरसनप्रकारश्च प्रदर्शित एव । ततश्चेतराणि विशेषणानि यथायोग्यं नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः । इत्यलम् विद्वत्सद्दञ्चप्रपञ्चनेन ॥

भावार्थ—संसार में कल्पवृक्ष के सदृश अपने सेवकों की कामना को पूर्ण करने वाले, और सुचारित्र मातापिताओं से ही जन्म पाये हुये यह कोई मनुष्य या कोई देवता हैं, या कोई और विशेष शक्ति है, इस प्रकार की भ्रान्ति को उत्पन्न करने के लिये, और अहिंसा व्रत के अनुराग में रङ्ग देने वाले, खड्ग से विजय पाने वाले राजे महाराजाओं पर भी अहिंसोपदेश से विजय प्राप्त करने वाले, इसी कारण जीतने वालों के भी जीतने वाले, और विजयशील जिह्वा वालों से भी अपनी मति के अनुसार स्तुति की गति से पूजे हुए, अपने शिष्यों को इसी धर्म पर चलाने वाले, विचित्र व्यवहार से खूब सजी धजी हुईविजय को प्राप्त करने वाले, भारत की प्रमाद रूपी चिन्ता को काटने वाले, माता के निर्मल दूध के पान करने से उत्पन्न हुये ऊर्ध्वगामी वीर्य से प्रादुर्भूत तेज से मस्त रहने वाले श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें ॥२१॥

अथ द्वाविंशोऽर्थः

पूर्वमानुलोम्ये सर्वसमुदितस्यार्थः प्रदर्शितः। ततश्च भिन्नतया प्रतिपदमेव सर्वेषां पृथक् पृथगेवार्थप्रदर्शनं कारितम्। ततोऽपि विलोमरीत्यान्तत आदिपर्यन्तं सांप्रतं पुनरप्यनुलोमक्रमेणैव गमनोद्योगः क्रियते—

योगाभोगानुगामी, योगाः—प्रयोगाः—अनुष्ठान-विशेषार्थं प्रयोज्या मन्त्रतन्त्रादयः, तेषामाभोगोऽन्यूनत्वमसौ

योगाभोगः, तमनु—इत्थम्भावेन दृढनिश्चयत्वेन गच्छति जानाति प्राप्नोति वेत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी। कदाचित्केषाञ्चिद्विपत्तिकाले मन्त्रप्रयोगकर्तेति भावः, जीयात्।

इह अम्बालये एवैकदा ढुण्ढकसमाजेन सह पूजकसमाजस्य पारस्परिकविरोधेनातीवमुष्टामुष्टि दण्डादण्डि—आहवः प्रवृत्तोऽभूत्। ततश्च राजद्वारेऽभियोगोऽपि प्रचलितोऽभवत्। सेवकैरभ्यार्थितेनानेन महात्मना घटमेकमानाय्य रिक्त एव घटो वालुकावेदिकायां संस्थाप्य चत्वारो जापका मन्त्रोपदेशपूर्वकं तत्रोपवेशिताः। यावत्पर्यन्तमयङ्घटो वारिणा प्रपूर्येत, तावद्युस्माभिर्मन्त्रजपः कार्य इत्युक्त्वा तत्स्थानस्य द्वारम् पिधापितं, दिनत्रयानन्तरम् तस्मिञ्छुष्के घटे नीरं समुत्पन्नम्। ततस्तैर्जापकैर्नीरमागतम् नीरमागतमित्युक्त्वा मध्य एव समापितो जपः। तेन कियन्मात्रो दण्डस्तेषामुपर्यापतित आसीत्, परं बाहुल्येन मुक्तास्ते। अत ईदृशं व्यवहारं दृष्ट्वाऽनुमीयते मन्त्रप्रयोगाऽप्यस्य स्वभ्यस्ता एवासन्। तत एव विशेषयति कविर्योगाभोगानुगामीति विशेषणेन। ततश्चान्यानि विशेषणानि यथायथन्नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयः॥

भावार्थ—योग तथा मन्त्र तन्त्रों के प्रयोग में भी दृढ़ निश्चय से जीवन बिताने वाले, तथा किसी श्रावक को विपत्ति के समय कुछ मन्त्र तन्त्र के प्रयोग करके उसके कष्ट को मिटाने वाले, इसी

प्रकार द्विजों की मन्त्र तन्त्रादि से सेवा करने के लिये उत्पन्न हुये मन्त्रविद्या के वेत्ता तथा मन्त्रवेत्ताओं के दिगन्त जेता, जीतने वालों को भी जीतने वाले, मन्त्र शास्त्रियों में भी प्रतिष्ठा पाये हुये, विचित्र लीला (धारण शक्ति) दिखाने वाले, और ऐसे पुरुषों से अपनी लज्जा को रखने वाले, किसी देश विशेष की चिंता को धारण न करने वाले अपूर्व तेजस्वी श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥२२॥

(नोट) यह बात किसी अम्बाला निवासी मूर्तिपूजक समाज के वृद्ध पुरुष से छिपी हुई नहीं है कि एक समय अम्बाले में मूर्तिपूजक समाज की ढूँढ़ियों के साथ बड़ी घोर लड़ाई हुई, जिसमें ढूँढ़ियों को बहुत चोटें लगीं, और अदालत में अर्जी पर्चे हो गये, महाराज साहिब के श्रावकों ने महाराज जी से कहा कि बड़ी सख्त सज़ा मिलने की सम्भावना है, कोई उपाय हो तो हम बच जायें, तब उन्होंने उनको एक खाली मटका (घड़ा) देकर कहा कि इस मटके को वस्त्र से ढक कर हमारे बताये हुये मन्त्र का जाप करो । तीन दिन में जब यह मटका पानी से भर जाय तब छोड़ देना, फिर तुमको कोई चिन्ता नहीं । उन लोगों ने वैसा ही किया । किन्तु जप करने में ध्यान कम था, और खाली घड़े में पानी आता हुआ देखने की लगन अधिक थी, अतएव ज्योंही घड़े में पानी आना आरम्भ हुआ, त्योंही पानी आगया २ कह कर जप करना छोड़ दिया, जिसका फल यह हुआ कि एक दो आदमियों को सामान्य सज़ा मिली थी । उक्तार्थ में इस घटना का इशारा है ॥

अथ त्रयोविंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

द्वौ जौ जकारौ येषान्नामसु ते द्विजाः। यथा भ्रमरस्य द्विरेफ—इति संज्ञा नाम्न्येव रेफद्वयमाश्रित्य प्रसिद्धिमिता, तथैवात्रापि जघन्यज इत्यस्मिन्प्रातिपदिके जकारद्वयसद्भावात् शूद्रा अपि द्विजा इत्यभिधीयेरन्। तेषां द्विजानां (शूद्राणामपि) भस्य भावस्य जनाय जननाय (उत्पादनाय) जनिर्यस्य स द्विजभजनजनिः। जननं जनः, (इति प्रागपि घञर्थे कविधानेन प्रदर्शितम्) भस्य भावस्य जनः—भजनः, भजनाय जनिर्भजनजनिः। भकारकोषस्तु यथा—

"पितृभ्रातृपितृव्येषु भोऽतिभीते भयाकुले।
भकारः पुंसि जलदे भ्रमरे भावशूलिनोः"॥

"भं नक्षत्रे भगे भागे" "नपुंसके भं नक्षत्रे गगने पुण्ड्रचन्द्रयोः" इत्येकाक्षरकोषः, अभिधानराजेन्द्रश्चापि। भावस्तावत् उपासनोपायसाधको मानसो धर्म इति शब्दार्थचिन्तामणिः।

पूर्वार्थसङ्ग्रहे द्विजशब्देन ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानाम्प्र-

तिपादनादस्यपक्षपातित्वलाञ्छनमापतेदिति भावेनास्य शब्दस्य शूद्रपरमर्थं प्रदर्श्य तेष्वपि कर्म कृतमनेनेति निर्गलितेनार्थेन सर्वत्र साम्यं दर्शयता पक्षपातदोषोऽपि निराकृत इति शम् । शेषम्पूर्ववदन्वीय जीयादित्यनेन योजयेत् ॥

भावार्थ—पूर्वोक्तार्थों में प्राय: द्विज शब्द का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही आया है, अब एक शब्द दो जकारों वाला जघन्य दृष्टि में आया है, जिसका अर्थ शूद्र या चाण्डाल भी हो सकता है, अतः पक्षपात रहित उन शूद्र तथा चाण्डालों के अन्तरंग भी अहिंसक भाव उत्पन्न करने के लिये भी जन्म धारण किये हुये, तथा उनके संग्रह (एकता) के लिये पूर्ण व्यवसायी उनमें भी शास्त्रीय उपदेश द्वारा अहिंसा का सञ्चार करने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥२३॥

अथचतुर्विंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

द्वौ जौ यस्य नाम्नि स द्विजः, ईदृङ्नामको जारजः—अकुलीनो दुर्भगो जनः (हरामज़ादा इत्युर्दूभाषाप्रतिपादितः), तेषां द्विजानाञ्जारजानाम्भजनाय विभागाय पृथक्करणाय जनिर्यस्यासौ द्विजभजनजनिः । जारजास्त्वेतस्य समक्षमा-

गच्छन्तो लज्जंते, यतः प्रथममेव तद्भाषणेन तेषामकौलिन्यं विकाशं भजते स्म। तदुक्तं यथा—

"न जारजातस्य ललाटशृङ्गं कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मम्।
यथा यथा मुञ्चति वाक्यजालं तथा तथा तस्य कुलं प्रमाणम्॥"

अतस्ते त्वस्य प्रत्यक्षताविरहेणैवान्वमीयन्त इति भावः, इदृक्प्रभावो जीयादित्यन्वयः। शेषे यथापूर्वम्॥

भावार्थ—द्विजों में भी कुलीनता और अकुलीनतावाले पुरुषों के विभाग के लिए ही जन्म धारण किये हुये, अर्थात् जिसके पिता के विषय में कुछ सन्देह हो, ऐसे पुरुष उनके सामने आ ही नहीं सकते थे, और यदि आते भी तो उनकी वार्तालाप से उनकी अकुलीनता छिपी नहीं रह सकती थी, इस प्रकार के संयोग को भली प्रकार जानने वाले थे, इसी वास्ते उन पर भी विजय पाने वाले, तथा अपने उपदेश से उनके क्षेत्र (माता) पर उत्पन्न होने वाली उदासीनता (नाराज़गी) को दूर करने वाले, ब्रह्मवर्चस्वी, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें॥२४॥

अथ पञ्चविंशोऽर्थः

द्विजभजनजानिर्जीयात्—

द्वौ जौ येषान्नामसु ते द्विजाः—जरायुजाः, ते चापि

मानवा अमानवाश्च (पशवः) इति द्विविधो । जरायुजानां विवेकविधिश्च शास्त्रकारैरेवं भणितः । येषां किल जातमात्राणामेव कर्णौ शिरोभागे बहिर्निर्यातौ, प्रत्यक्षेण कर्णपालिकारूपौ दृश्येते, ते तु जरायुजाः । येषाङ्गुप्तरूपेण सन्ति ते खल्वण्डजाः । ततश्च तेषां द्विजानां जरायुजानां भः शिवं कल्याणम्—द्विजभः, तस्य द्विजभस्य जनाय (जननाय) जनिर्यस्यासौ द्विजभजनजनिः । द्विपदानान्तु धर्मोपदेशेन, चतुष्पादानां गोशालादिनिर्माणेन, अहिंसोपदेशप्रचारेण चापि कल्याणमनेन सम्पादितम्, तत्करणायैव जात इत्यर्थः । अनेनार्थेन न केवलमनेन मनुष्यमात्र एवोपकृतम्, पशुष्वपि तद्रक्षोपदेशात् । एवम्भूतो गुणवानयञ्जीयात् ॥

भावार्थ—न केवल चारों वर्णों पर ही प्रत्युत (बल्कि) जेर से ही उत्पन्न होने वाले दोपाये तथा चौपाये सभी जीवों पर दया करने वाले, तथा उनके कल्याण के लिये ही उत्पन्न हुवे हुवे दोपायों पर धर्मोपदेश से और चौपाये गौ आदियों पर गौशालादियों के खुलवाने से, शेष जीवों की अहिंसा के उपदेश से सेवा करने वाले, शेष पूर्ववत् विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥२५॥

अथ षड्विंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिः—

द्विर्जायन्ते ते द्विजा अण्डजाः, प्रथमं मातुर्गर्भाज्जायन्तेऽण्डरूपेण, ततश्चापरथा शिशु (जीव) रूपेण जायन्ते, अत अण्डजा अपि द्विजा उच्यन्ते, "द्विजः स्याद् ब्राह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु ना" इत्यमरः। पूर्वोक्तार्थे 'जरायुजानां कल्याणाय जातः' इत्यभिधानादन्येषाम्प्राणिनां विषयेऽस्योपेक्षावृत्तिर्ध्वनिता माभूदित्यभिप्रायेणाऽयमपरोऽर्थोऽण्डजसृष्टिविषयको विवर्ण्यते। तेषां द्विजानामण्डजानाम् भस्य शिवस्य (कल्याणस्य) जननाय जनिर्जन्म यस्यासौ द्विजभजनजनिः, अण्डजसृष्टिरपि विविधैः प्रभेदैर्विभिद्यते। तथा च स्वेदजा सृष्टिरप्यण्डजैव भवति, यतस्तत्रापि पूर्वं लीक्षादिरूपाण्यण्डान्येव जायन्ते, अतः स्वेदजसृष्टेरप्यण्डजसृष्टावेवान्तर्भावः। ततस्तेषां यूकालीक्षादीनामपि रक्षार्थोपदेशेन कल्याणमनेन क्रियत एव। ततश्च यथापूर्वं क्रिययाऽन्वयः॥

भावार्थ—द्विज शब्द से पक्षी भी बताये जाते हैं, इसीलिये न केवल दोपाये चौपाये ही इनकी करुणा के पात्र थे, प्रत्युत (बल्कि) अण्डों से पैदा होने वाले पक्षी कृमि कीट पतंगादि के भी कल्याण के लिये उत्पन्न हुवे हुवे और अहिंसा व्रत में

योगानुकूल जीवन बिताने वाले, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द विजय प्राप्त करें ॥२६॥

अथ सप्तविंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

अथेदानीञ्जरायुजाण्डजस्वेदजेति त्रिविधाया एव सृष्टेः कल्याणकारित्वमस्मिन्दर्शयता चतुर्थ्या उद्भिद्जायाः सृष्टेर्विषये तूपेक्षाबुद्धिर्दर्शितैवेति न दोषराहित्यमत्राप्यवगम्यत इति न शङ्क्यम्, अनेनैव पदेन तदर्थस्यापि भानात् ॥

तदित्थम्—सर्वोऽपि संव्वत्सरः कृषीवलैर्द्वयोरेव भागयोर्विभक्तः। एकस्य विभागस्य नाम "सावनी" इत्यभिधीयते, द्वितीयस्य च नाम "असाढ़ी" प्रकीर्त्यते। यद्वा दक्षिणोत्तरायणरूपेण भागद्वयमस्तीति। अतस्तयोर्द्वयोर्भागयोर्जायन्त उद्भिद्यन्ते तेऽपि द्विजा वृक्षा लतागुल्मास्तृणादयोऽपि। तेषामपि भस्य कल्याणस्य जननाय जनिर्यस्यासौ द्विजभजनजनिः। उद्भिद्जानामपि छेदनमर्दनभेदनादिकं न विधेयम् तेष्वपि जीवसद्भावात्, हिंसायामेव तत्परिगणनत्वात्, अहिंसाव्रतभङ्गप्रसङ्गात्—इत्याकारकैरुपदेशैस्तस्या उद्भिज्जसृष्टेरप्युपकारित्वमनेन विशेषणेन सुव्यक्तमस्य दन्ध्वन्यते, इत्यत्र न सन्देहलेशोऽपीति शम् ॥

भावार्थ—इस पूर्वोक्त वर्णन से केवल जरायुज अण्डज तथा स्वेदजसृष्टि का ही वर्णन हुआ, अब उद्भिदज सृष्टि का वर्णन भी इसी पद से किया जाता है, वर्ष भर के दो भाग अर्थात् असाढ़ी अथवा सावनी में उत्पन्न होने वाले वृक्ष लता गुल्म तृणादि और पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रिय जीवों के भी कल्याण के लिये उत्पन्न हुवे हुवे अर्थात् अकारण इन चीजों को भी नहीं तोड़ना और अत्यावश्यकता में भी इस प्रकार उनसे काम लेना जिससे वे समूल नष्ट न हों, इस प्रकार के उपदेश से उनकी भी रक्षा करने वाले, शेष विशेषण पूर्ववत् श्री विजयानन्द जी विजयी होवें ॥२७॥

अथाष्टाविंशोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

स, आर, दारक्ति, रक्त इति छेदः, यः पूर्वस्मिन्नर्थे द्विपदचतुष्पादानां सर्वेषां कल्याणकारीति व्याहृतः, कथं स धनेन विना कार्याणि सम्पादयत्यर्थसाध्यत्वात्सर्वकार्याणा-मित्याशङ्क्याह—स, दारक्तिरक्त आर, दाः दानशौण्डा दानवीरा इत्यर्थः, तेषाम् आ समन्तात्सर्वत्र रक्तिः प्रेम तया रक्तः परिभावित इत्यर्थः । दानवीराणां प्रेमपात्रमिति भावः, एवम्भूतः सन् स आर—आगच्छति स्म,

आङ्पूर्वकस्य "ऋ गतौ" इत्यस्य लिटि रूपम् । स आर इत्यत्र "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" इत्यनेन सन्धिः, शसयोरैक्यात् स इति छेदः । यद्वा सारम् धनम् ददातीति सारदा धनदा श्रेष्ठिनस्तेषामारक्तया रक्तः—सारदारक्तिरक्तः, शसयोः सावर्ण्यात् शारदारक्तिरक्तः, "सारो बले स्थिरांशे च मज्जि पुंसि जले धने" इति मेदिनी । अथवा स अर दा रक्तिरक्तः—अरं शीघ्रं ददातीति अरदारक्तिरक्तः "लघु क्षिप्रमरन्द्रुतं" इत्यमरः । "सोऽचि-लोपे" इत्यनेनैव सन्धिः, अविवक्षयैव दानार्थकात् "डुदाञ् दाने" इतिधातोरकर्मकत्वम् । तदुक्तम्—

"धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥"

यदैव यत्कार्यं सम्पादयितुमसौ मनागप्योष्ठौ सञ्चालयति, तदैव ते श्रेष्ठिनस्त्वरितमेव धनव्ययेन विधापयन्तीति हेतोः सर्वकल्याणकारित्वं तस्य सूपपन्नमेव । एवम्भूतः स जीयादिति परेणान्वयः, ततश्च यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—महाराज क्या थे, मानो बड़े बड़े धनी तथा अन्नदाताओं के प्रेमपात्र होकर आये हों, दानवीरों के योग को सुयोग करने वाले, अपने प्रभाव से दानवीरों के चित्त पर विजय पाने वाले, तथा दानियों से शीघ्र ही दान दिलवाकर

सदुपयोग में लगा देने वाले, गौशाला, अनाथालय, पाठशाला, मन्दिरादियों के सम्पादन करने में तथा दीन हीनों की सहायता करने के लिये ज़रा होठ हिलाने मात्र से यथेच्छ धन दिला देने वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥२८॥

अथैकोनत्रिंशोऽर्थः

दिग्जेता जीयात्—

दिशो जायन्ते यस्मात् स दिग्जः सूर्यो ध्रुवो वा, सूर्य-निःसरणादेव दिग्विभागज्ञानं जायते, यतो यस्यां दिशि पूर्वं सूर्यो दृश्यते, सैव पूर्वा दिगिति व्यवहारमाश्रित्यैव दक्षिणादीनाम्व्यवहारप्रयोगात् । रात्रौ चापि ध्रुव उत्तरस्यान्दिशि लोचनगोचरीभवति, तत एवान्यासां दिशां ज्ञानप्रवर्तनाद् ध्रुवोऽपि दिग्जः । अन्यश्चापि दिग्ज्ञानप्रकारः, "कुतुबनुमा" नामकयन्त्रप्रयोगः । तस्यापि ध्रुवमुद्दिश्यैव निर्माणसद्भावात्तन्मूलमपि ध्रुव एवेति नाऽयं विभिद्यते, न चाप्यत्र कश्चित्सन्देहावसरः । "इः—अनुकम्पायाम्" इत्यभिधानराजेन्द्रः । तथा च दिग्ज इव इम् दयान्तनोति विस्तारयतीत्यसौ दिग्जेता । दिग्जेपूर्वकात् "तनु विस्तारे" इत्यस्मात्कर्तरि क्विप्, "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति पाणिनिसूत्राभिधा-

नात् क्विपः सर्वापहारान्नकारान्तोऽयं शब्दः । यथा सूर्यः स्वकिरणैः प्रकाशं ददाति, दुर्गन्धश्चापि प्रशमयति, तथैवाऽयं महात्मा ज्ञानमुद्भासयति, दुर्वासनाश्च विदूरयतीति हेतोरियमस्याऽनुकम्पैव, न किमपि स्वार्थानुसरणम् । तत एव सूर्येण साम्यम् ॥

ध्रुवश्चापि सुमहतीं शिक्षां वितरति । यथा विचलत्यपि सर्वस्मिञ्ज्योतिश्चक्रे ध्रुवः स्वस्थान एव स्थितः, तथैव प्रवर्त्तमानेऽपि संसारचक्रे विद्वद्भिः सुमहद्भिर्वा न भ्रमितव्यम् प्रत्युत सुदृढतया स्वधर्म एव स्थातव्यमितिभावः । एतादृश्या शिक्षया ध्रुवोऽप्यनुकम्पते जगति, एवमेवायमपि महात्मा स्वधर्माश्रयणे तद्व्यवहारे चापि सुदृढैरेव स्थातव्यमित्याद्युपदेशशिक्षणेन सन्मार्गनियोगेन सुतरामनुकम्पत एव, एवमेवान्यान्यपि विशेषणानि यथायथं नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—सूर्य के समान ज्ञानरूपी प्रकाश देकर तथा अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके संसार का उपकार करने वाले तथा ध्रुव के सदृश अपने धर्म तथा नियमों में सुदृढ़ रहने वाले, चलते हुये ताराचक्र की भांति संसार चक्र को देखकर भी अपने दृढ़ विश्वास से विचलित न होने वाले, तथा पूर्व विशेषणों से युक्त, श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥२६॥

अथ त्रिंशोऽर्थः

जेतृजेता जीयात्—

जेतारः प्रचण्डदोर्दण्डेन भूमण्डले समस्ते निरस्तारातिनिग्रहं स्वशासनेन नेतारः पराक्रमेण शासितार इत्यर्थः, तेषां जेतॄणां जः विजयो निर्दयत्वेन परहिंसास्वरूपो जेतृजः, तस्य जेतृजस्य—इः—गतिः, उत्तरोत्तराधिक्येन प्रसरः प्रवाह इति यावत्, असौ जेतृजेः, तं जेतृजयम् तरति पारं गच्छति तारयति वा जेतृजेता, विजयशालिनामपि शत्रुः, हिंसारूपविषयजन्याहङ्कारादिरोगस्य निवारयिता। यद्वा हिंसाविषमेव विसर्परोगः, तस्मात्तारयिता तन्निवारयितेत्यर्थः। अथवाऽहिंसोपदेशात् परस्परहननमूलविरोधस्यैव निराकरणादेकेषां पराजयरूपकालुष्यनिवारणेनान्येषां विजयहर्षजन्यतत्प्रकारताविशिष्टाहम्मदप्रतारणेन पारस्परिकवैमनस्यं प्रणाश्य ततः परं मिथो हिंसनव्यापारपारावारात्तारयिता, "प्रणामान्तः कोपः" इत्युक्तत्वात् तेषाम्परस्परं नमनेन विरोधमुद्धूय मैत्रीप्रसारयिता, सर्वभूतेषु दयामैत्रीप्रचारप्रसारकत्वादिति भावः ॥

दिग्जेपूर्वकात् "तॄ प्लवनसन्तरणयोः" इत्यतः "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति सूत्रेण कर्तरि क्विप्, दीर्घान्तत्वान्न तुक्, "दृशिग्रहणम् विध्यन्तरोपसंग्रहार्थम्" इति

वृत्तिकारः, तस्य फलन्तु क्वचिद्दीर्घः, क्वचित्सम्प्रसारणम् क्वचिद् द्वे क्वचिद्ध्रस्व इत्यादि प्रदर्शितं दीक्षितेन, तस्मादत्रापि दशिग्रहणसामर्थ्याद्ध्रस्वः। जेतृजेतृ—इत्याकारकस्य प्रथमाविभक्त्येकवचने रूपंजेतृजेतेति, पापात्मनां पापनिरतान् भावान् व्यत्यास्य पापं प्रति घृणोत्पादनेनाहिंसाव्रतधारणानुप्रवर्त्तनमेवास्य तरणन्तारणञ्चापि। इत्यलं विद्वत्सु विस्तारप्रस्तारेण। ततश्च यथापूर्वमवशिष्टविशेषणप्रयोगोत्तरम् जीयादित्यनेन सम्बन्ध ऊह्यः॥

भावार्थ—शस्त्र-युक्त शत्रुओं की हिंसा करके विजय प्राप्त करने वाले निर्दय पुरुषों पर भी अहिंसोपदेश द्वारा हिंसा से हटाकर उन्हें पार उतारने वाले, इसी सिलसिले में परस्पर विरोध को भी मिटा देने वाले, इसी प्रकार हारनेवालों के हृदय में हारने से उत्पन्न हुई वेदना और जीतने वालों के चित्त में जीतने के हर्ष से उत्पन्न हुवे अहङ्कार को सदुपदेशों से मिटाकर पिछले किये पर पश्चात्ताप और आगे के लिये निवृत्ति कराकर जैन धर्म की विजयपताका लहराने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें॥३८॥

अथैकत्रिंशोऽर्थः

जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितो जीयात्—

ऐरितिसम्बोधनार्थकः स्वरान्तरविशेषः । क्वचित्सम्बोधनार्थकशब्दानां परतोऽपि प्रयोगो लक्ष्यते । यथा—"राम हे त्वां भजाम्यहम्" तेन ऐ जिष्णुजिह्व ! जिष्णुरिन्द्रः "जिष्णुर्लेखर्षभःशक्रः" इत्यमरसिंहाभिधानात्, तम् जिष्णुं जयतिस जिष्णुजिः कामः, "कामजित एव शक्रः स्वर्गाङ्गना अपि त्यक्त्वा अहल्यां प्रपेदे" इति पुराणैर्विवृतत्वात्, जिष्णुपूर्वकात् "जि जये" इत्यस्मात् 'इन्' औणादिकः प्रत्ययः, बाहुलकाड्डित्वम्, डित्वाट्टेर्लोपः । अथवा क्विबेव विधेयः, दृशिग्रहणसामर्थ्यात् तुगभावः । तं जिष्णुजिं ह्वयते—असौ जिष्णुजिह्वः, "ह्वेञ् स्पर्धायाम् शब्दे च" इत्यस्मात्कर्मण्युपपदे—"आतोऽनुपसर्गे कः" इत्यनेन कः, तत्सम्बुद्धौ हे जिष्णुजिह्व कामाभिभवकारक इत्यर्थः । मतिः—मनुतेऽवगच्छति कालत्रयोपेतञ्जगत्त्रयम् या सा मतिः केवलज्ञानाख्या, तस्या नुतयः स्तुतयः मतिनुतयः, तासाङ्गतयो मार्गाःमतिनुतिगतयस्ताभिर्मतिनुतिगतिभिरुपलक्षितो भवान्पूजितः सञ्जीयात् ॥

यद्वा मतिनुतिगतिभिरेव कारणभूताभिः (मयेति शेषः) पूजितो भवान्, एता एव लोकोत्तरा त्वयि त्वत्पू-

जायाःकारणम्, अत एताभिर्जुष्ट एव भवाञ्जीयात् जीव्यादित्यर्थो वाऽप्यूह्यः । शेषम्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—हे इन्द्र के जेता कामदेव को भी नीचा दिखाने वाले, और केवल ज्ञानानुसारणी मति की स्तुति से युक्त अथवा इस प्रकार की मति तथा स्तुति और गति से पूजे हुये तथा पूर्ववत् विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी चिरकाल तक जीते रहें जिससे संसार का उपकार होता रहे ॥३१॥

अथ द्वात्रिंशोऽर्थः

दायादयात्री जीयात्—

दा—आ—अय—आद् या त्रैङ्—इति छेदः ! "निर्नाथवनिता च दा" इति विश्वदेवशम्भुमुनिः, अयनम् अयः—प्राप्तिः, "इण् गतौ" इत्यस्मात् घञर्थे 'एरच्' इत्यनेनाच्प्रत्ययः, "घञजपाः पुंसि" इत्यनेन पुंस्त्वम् । आदनम्-आदः—भोजनम्, णिजन्ताद् "अद् भक्षणे" इत्यादादिकाद्भावे घञ् । यानं या—प्राप्तिः—गतिः—जीवननिर्वाह इति यावत्, "या प्रापणे" इत्यतो भावे क्विब्वा । दानां निर्नाथस्त्रीणां य आ—समन्तात् आयः—प्राप्तिः—अयनं—ज्ञानम्वा दायः, तस्मिन् दाये सति या आदेन या असौ दायादयाः, अनाथस्त्रीणां (विधवादीनाम्) आगमने ज्ञाने वापि

सति तासां भोजनादिजीवननिर्वाहं त्रायते—पालयतीत्येवं शीलो दायादयात्री । एतेनानाथस्त्रीणां भोजनवस्त्रादि-दानेन तासां रक्षोपदेशोऽप्यनेन व्यधायीतिसर्वाङ्गोपकार-कत्वमस्यावगम्यत इत्यभिसन्धिः । सर्वाणि विशेषणानि यथास्थानं नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेय इति शम् ॥

भावार्थ—अनाथ विधवा स्त्रियों के खबर पाते ही दानी धनी लोगों से उनके भोजन वस्त्रादि का पर्याप्त प्रबन्ध कराकर उनको भी सदुपदेश द्वारा सन्मार्ग पर चलाने वाले अर्थात् विधवाश्रमों का भी ध्यान पूर्वक प्रबन्ध कराकर उनपर भी उपकार करने वाले श्री विजयानन्द सूरि देर तक जीते रहें । शेष विशेषण पूर्ववत् ॥३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽर्थः

खलबलदलनः—

अत्र ख—लवल—दलन इति छेदः । "खः—निन्दायाम्" इत्यभिधानराजेन्द्रः । लवो लेशः—अल्पी-यसी मात्रा, "लवलेशकणाणवः" इत्यमरः, "ल आलये" इत्यभिधानराजेन्द्र एव । तदित्थम्—खस्य निन्दाया लवः—खलवस्तस्य खलवस्य लाः—आलयाः (आ समन्तादागत्य लीयते प्रविशति यस्मिन्नरः स आलयो गृहम्) ते खलवलाः, तेषां खलवलानां दलनो

विदूरणः—असौ खलवलदलनो निन्दकजनविदूरण इत्यर्थः। निन्दका हि खलचरिताः परमानर्थकरा भवन्ति, परस्परं विरोधजननेन स्वार्थं साधयन्ति, अपरञ्च जनं महासङ्कटे पातयन्ति, परन्तेषान्निवारणमप्यतीवकठिनं, यतस्ते मधुर-रवेण पुरुषान् मदमत्तानिव झटिति स्ववशगान् कुर्वन्ति। तेषाञ्चरितमेव विचित्रं भवति। तद्यथा—

"प्राक्पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसम्।
कर्णे कलङ्किमपि रौति शनैर्विचित्रम्॥
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः।
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति"॥इति॥

एवमादीन् भावान् जानन्नेव तान् समधिकादरेण नैव पश्यति स्म, प्रत्युत तेषां निन्दावचनश्रवणसमकालमेवं सदुपदेशैस्तादृग्भावान् शान्तरसेनैव त्याजयतीति भावः। ततश्चापराणि विशेषणानि सन्नियोज्य, जीयादित्यनेनान्वयो विधेयः॥

भावार्थ—निन्दा की अल्प मात्रा से युक्त भी निन्दक जनों को दूर रखने वाले तथा चापलूसों की चापलूसियों से न ठगे जाने वाले, अर्थात् न अपनी प्रशंसा से खुशी होने वाले, और नाहि निन्दा से नाराज होने वाले, गम्भीर प्रकृति को धारण किये हुये-

शान्त रस से ही सदुपदेश द्वारा निन्दकों से निन्दा और चापलूसों से चापलूसी छुड़वाकर उनको सन्मार्ग में लगाने वाले श्री विजयानन्द विजयी होवें, शेष पूर्ववत् ॥३३॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽर्थः

लोललीलस्वलज्जः—

अत्र ल, उ, लली, स्वलज्ज इति छेदः। रलयोरैक्याल्लस्य स्थाने रः, डलयोरैक्यात् लली—इत्यस्य स्थाने लडी—इति बोध्यम्। पुनरपि रलयोरैक्यात् लस्वलज्ज इत्यस्य स्थाने रस्वरज्ज इति ज्ञेयम्। रोलडी—रस्वरज्ज इत्येवञ्च पदद्वयं बोधव्यम्। अस्यार्थः रः—(आराधनम्) भगवद्भजनम्, "रः शिवे, कामे, निधौ, रुचौ, आराधने" इत्यभिधानराजेन्द्रः, उः नियोगः अङ्गीकारो वा, "उः अनुकम्पायाम्, नियोगे, अङ्गीकारे च" इत्यप्यभिधानराजेन्द्रः, "लड विलासे" इतिभौवादिको धातुः परस्मैपदी। तदित्थं लडनं लडः—विलासः (आनन्दः), घञर्थे कः, रस्याऽराधनस्य—उः—नियोगः [आज्ञया तस्मिन्नप्रवृत्तानां प्रवर्तनम्] अङ्गीकारो वा रोः, [भगवद्भजने प्रवृत्तिः] तदङ्गीकारो वा, नियोगस्तु परेषां कृतेऽङ्गीकारश्चात्मकृते। तस्य रोः—लडो विलासः

[आनन्दः] रोलडः, सोऽस्यास्तीति रोलडी । रल-योर्डलयोश्चैक्यात् लोललीति जातः, आराधनाङ्गीकारस्य तन्नियोगस्य वा विलासवान्नित्यर्थः ॥

लस्वलज्जः(रस्वरज्जः) रः कामः, तेन कामेन स्व-रन्तः—उपतप्ताः कामिनो रस्वरन्तः, "स्वृ शब्दोपतापयोः" इति भौवादिकाच्छतृप्रत्ययान्तप्रयोगः । तेषां रस्वरतां जा—देववाहिनी (गङ्गा) यत्रासौ रस्वरज्जः, रेफस्थाने लादेशाल्लस्वलज्ज इति सम्वृत्तः । यथोपतापवतां दाहप्रशमना-य गङ्गा प्रवहति, एवमेव कामोत्तापितानामपि तापप्र-शमनायास्योपदेशवचांसि गङ्गायन्ते स्म इति तात्पर्यार्थः । शेषम्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—अपने इष्टदेव के आराधन को अङ्गीकार करने वाले तथा अपने अनुयायियों को अपने इष्टदेव के आराधन में लगा देने से आनन्द लूटने वाले, तथा कामीजनों के काम सञ्चार से उपतप्त हृदयों में शान्ति पहुँचाने के लिये श्री गङ्गा जी की तरह शीतलता का सञ्चार करने वाले, उनको भी योगमार्ग के अनुकूल चलाने वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजया-नन्द जी विजय प्राप्त करें॥३४॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽर्थः

केदारौदास्यदारी—

"कम्—मनः" इति शब्दार्थचिन्तामणिरभिधानराजेन्द्रश्चापि, "ओः स्मरणे" इत्यभिधानराजेन्द्रः। अवम् स्मरणम् ददातीति—ओदाः, ओपूर्वकात् "डुदाञ दाने" इत्यस्मात्क्विप, दाराणाम् स्त्रीणाम् ओदाः—दारौदाः, के मनसि दारौदाः केदारौदाः, "अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे" इत्यनेन सप्तम्या अलुक्, स्यदो वेगः, "रंहस्तरसीतुरयः स्यदः" इत्यमरः। तस्मात्केदारौदः स्यदेन इयर्ति—धावतीत्येवंशीलो केदारौदास्यदारी, मनस्यपि योषित्स्मरणप्रदाख्यानकाद्दूरं धावतीति भावः ॥

कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे पुनरिति शास्त्रोक्तवचनप्रामाण्यात्, न खलु कामोत्पत्तिदोषभयात्। तत्र तु विषयाप्राप्तिः पूर्वमेव वर्णिता इति तत्त्वार्थः ॥

भावार्थ—पापों का नाम या स्मरण करना भी बुराई के लिये पर्याप्त (काफी) होता है, इसी भावको चित्त में रखकर स्त्रियों का कामोत्पादक वृत्तान्त तो दूर रहा, उनके साधारण वर्णन से भी चित्त को दूर भगाने वाले, तथा इसी प्रकार के उपदेश से अपने शिष्य प्रशिष्यों को भी काम चेष्टा से बचाने वाले, इसी कारण पूर्ण ब्रह्मचर्य से उत्कट प्रभाव वाले, योग मार्गानुकूल

आचरण से उर्ध्व रेता बने हुये, तथा अन्यान्य पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजयी होवें ॥३५॥

अथ षट्त्रिंशोऽर्थः

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः—

विमला नाम काचिद्देव्युत्कलदेशे । तदुक्तं यथा—

"उत्कले नाभिदेशस्तु विरजाक्षेत्रमुच्यते ।
विमलाऽत्र महादेवी जगन्नाथस्तु भैरवः" ॥इति॥

तस्या विमलाया यन्मधु मद्यम् (भोगव्याजेनाहृतम्) तद्विमलमधु, तस्य विमलमधुनो मदः—मत्तता विमलमधुमदः, तेन विमलमधुमदेन—उद्दामानि—उच्छृङ्खलानि धामानि—शरीराणि येषान्ते विमलमधुमदोद्दामधामानः, "उद्दाम वरुणे अप्रतिबद्धे स्वतन्त्रे च" इति शब्दार्थचिन्तामणिः। "धाम देहे, गेहे च" इत्यादिरपि शब्दार्थचिन्तामणिरेव । तान् विमलमधुमदोद्दामधाम्नः प्रमथ्नाति न्यक्करोति वादप्रतिवादेष्वसौ विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्, तस्य भावः तत्ता साऽस्यास्तीति विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः, वाममार्गिभिः सह वादप्रतिवादेषु तेषां मद्यमांसादिखण्डनपरत्वेन तन्मतानुयायिनां

निराकर्त्तेति भावः ॥

भावार्थ—वाममार्ग से मद्य मांसादि द्वारा भगवती का पूजन करने वाले और भगवती का भोग समझ कर या कहकर मद्यमांस के सेवन से अपने शरीर पर भी काबू न रखने वाले वाममार्गियों को शास्त्रार्थ तथा वादविवाद में पराजित करके सुधारने वाले, इसी वास्ते जीतने वालों के भी जीतने वाले, तथा उनसे भी पूजे हुये श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥३६॥

अथ सप्तत्रिंशोऽर्थः

अथाधुना पुनरपि विलोमपथैव गम्यते—

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तो जीयात्—

मधु पुष्परसो माक्षिकम्, विमलं निर्मलम् (स्वच्छश्च) तन्मधु—इतिविमलमधु, तस्य विमलमधुनो मदेन—हर्षेण उद्दामानि—अप्रतिबद्धानि विवशानि धामानि शरीराणि येषान्ते विमलमधुमदोद्दामधामानः, भ्रमरा वसन्ततौ कुसुमविकसिति बाहुल्येन शीततोर्निर्गमेन च शैत्यभीत्या क्वापि स्वप्राणरक्षार्थं निलीनानां, तत्कारणादेव बुभुक्षिता-नामत एव कृशानां, स्वखाद्यसामग्रीसमाप्त्या दरिद्राणाम-प्यत एव च चिराद्वसन्तागमनप्रतीक्षमाणानां चेतस्सु

समागतोऽयमृतुराजः शत्रुमस्मदीयं शीतं समूलमुन्मूलयिष्यति, विपुलमधु चास्मत्कृते प्रवर्षयिष्यत्यत्याद्यात्मकान्मधुप्राप्तिमूलकान्मदाद् (हर्षात्) उन्मददेहा भ्रमराः (मधुमक्षिकाः) जायन्ते, तान् मधुकरान् तादृशान् मथ्नन्ति [मधुलोभेन तद्गृह्णाना मक्षिका अपि मर्दयन्ति] ते विमलमधुमदोद्दामधामप्रमथः, तान् विमलमधुमदोद्दामधामप्रमथः कर्मभूतान् तर्जयति भर्त्सयत्यसौ विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तः । विमलेत्यादिमदन्तपूर्वकात् "तर्ज भर्त्सने" इत्यस्माद्धातोः "अन्येष्वपि दृश्यते" इति सूत्रेण डः प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः । मधुग्राहिणोऽपि स्वसदुपदेशैरेव बोधयित्वा तदात्मभिरेव तान् धिक्कारयतीति भावः । शेषं यथापूर्वम्, जीयादित्यनेन सम्बन्धः ॥

भावार्थ—वसन्तादि शुभ ऋतुओं में खिले हुये पुष्प समुदाय से हर्षपूर्वक रस चूस कर घर बनाये हुए तथा उसमें मधु (शहद) रूपी सम्पत्ति स्थिर किये हुये भ्रमर तथा मधुमक्खियों को कुचल कर डाकुओं की तरह उनके घर को लूटकर कुचल डालने वालों को शान्त रस से ही समझा कर ताड़ने वाले, तथा उस कर्म से पश्चाताप करके अपने शरीर पर उत्पन्न हुई घृणा को सदुपदेश द्वारा दूर करने वाले, पूर्वोक्त विशेषणों युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें ॥३७॥

अथाष्टत्रिंशोऽर्थः

केदारौदास्यदारी जीयादिति—

अत्र क—इ—अदार—औदास्यदारीति छेदः। कः—कामः, "कः—ब्रह्मणि, विष्णौ, कामे, अग्नौ, वायौ, यम इत्यादिषु" इत्यभिधानराजेन्द्रः। "इः कमलायाम्, रचनायाम्, क्षोणीभृत्कुहरे, पद्मदले, ज्ञाने, गतौ" इति चाभिधानराजेन्द्र एव। तदित्थं न सन्ति दाराः स्त्रियो येषान्तेऽदारास्तेषामदाराणां यदौदास्यम् उदासीनता [अन्यान् सदारान् दृष्ट्वा तदसाम्येन कामवेगेन वापि तदभावाद्विमनस्कता] तद्—अदारौदास्यम्, कस्य—कामस्य इना ज्ञानेन [कोऽसौ कामः, कीदृक् चास्य व्यवहारः, किञ्च तस्य फलम्, कथञ्च तद्भोक्तव्यम्, कथञ्चाप्यस्माद् विरज्यते, विरागस्यापि च किम्फलम् भवति, किञ्च तस्मात्सुखं क्व कथञ्च तदपि लप्स्यत इत्यादितत्त्वावबोधनेन] अदारौदास्यं दृणाति विदूरयति [निराकरोतीति यावत्] इत्येवं शीलं यस्यासौ केदारौदास्यदारी। पूर्वम् "आद् गुणः" इत्यनेन के सम्पन्नम्, ततश्च "एङः पदान्तादति" इत्यनेनाऽकारस्य पूर्वरूपत्वम्, अदारास्तावच्छिष्यसम्प्रदाये तापसाः साधव एव, तादृशाः श्रावकाश्चापि ये समायन्ति, तेषाम्ब्रह्मचर्यशिक्षया दारेभ्यो घृणामुत्पाद्य

तद्ध्यानमेव निराक्रियत इति भावः । तादृशो जीयादिति । अवशिष्टं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—संसार में स्त्रियों से खाली रहे हुये कुवांरे तथा रण्डे विधुर एवं ब्रह्मचारी तथा तपस्वियों के चित्त में कदाचित् स्त्री के न होने से उत्पन्न हुई उदासीनता को (काम देव क्या है कैसे उसका व्यवहार होता है, क्या उसका फल (नतीजा) होता है कैसे वह भोगना चाहिये, किस रीति से उससे बचा जाता है, बचने से क्या लाभ होता है, क्या सुख पहुँचता है, और वह सुख कहां से किस तरह मिल सकता है ? इत्यादि) तत्वज्ञान द्वारा मिटाने वाले, अतएव विचित्र लीला वाले, कामदेव से अपनी तथा अपने भक्तों की प्रतिष्ठा बचाने वाले, योगमार्ग के पूर्ण ज्ञानी तथा पूर्व विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥३८॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽर्थः

लोललीलस्वलज्जो जीयात्—

लोला जिह्वा "लोला जिह्वायाम्, कमलायाम्, श्रियि, चञ्चलायाम्, नार्याम्" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, चाञ्चल्याद् जिह्वाऽपि लोला, तत्र द्विविधं तद् भवति, एकं वाक्कृतम् द्वितीयञ्चास्वादकृतम् । तत्र वाक्कृतन्तु क्वचित् क्वचिच्छोभाजनकमपि स्यात्, परमास्वादकृतन्तु सर्वथा

दोषकरमेव, ततश्चैव दुःखप्रदन्तत् । तत्र लोलायाः लीला विलासोऽसौ लोललीला, "लीलां विदुः केलिविलासखेल-शृङ्गारभावप्रभवक्रियासु" इतिविश्वः । लोललीलया सहिताः स्वाः स्वकीया इति लोललीलस्वाः, तान् लोललील-स्वान् लज्जयते सन्यासधर्मबहिर्भूताचरणात् त्रपयतीति लोललीलस्वलज्ञः, (पचाद्यच्) । न केवलं स्वयमेव जिह्वालौल्यविलासपरित्यागीत्येव मन्तव्यम्, अपि तु स्वशिष्यप्रशिष्यप्रणालीमपि ज्ञातिबान्धवानपि तादृशीमेव शिक्षां शिक्षयित्वा तदनभ्यासेन तान् लज्ञयतीति भावः । यत इतरेन्द्रियेषु सर्वत्र विजयप्राप्तिः सुलभा प्रतीयते, किन्तु-जिह्वायां विजयप्राप्तिर्दुर्लभैव, भोजनमूलकत्वाज्जीवनस्य । तस्य चापि जिह्वाया रुचिकरमूलकत्वात् दुर्निवारत्वम्, अयन्तु तत्राऽपि प्राप्तविजय इत्यर्थः । एवम्भूतोऽसौ जीयात् । शेषं पूर्ववत् ॥

भावार्थ—यद्यपि मनुष्य प्रयत्न करने से सभी इन्द्रियों पर विजय पा सकता है, तथापि भोजन के आधार पर शरीर की स्थिति होने से और जिह्वाके स्वादपर भोजन की गति होने से जिह्वा का जीतना अत्यन्त कठिन है । परन्तु यह चञ्चल जिह्वा की लीलाओं से अपने अन्तः करण में ही लज्जित होने वाले, तथा अपने शिष्य सम्प्रदाय में भी इसी प्रकार जिह्वा की चञ्चलता (स्वादों) से बचने का उपदेश करने वाले, और जिह्वा के योग

प्रयोग की शिक्षानुसार चलाने वाले श्री विजयानन्द सूरि महाराज विजय प्राप्त करें, शेष विशेषण पूर्ववत् ॥३९॥

अथ चत्वारिंशोऽर्थः

खलबलदलनो जीयात्—

अत्र खर—बल—दल—न इति छेदः । खरो नाम कश्चिद्रावणराक्षसस्य भ्राता प्रसिद्धो रामायणे, यः शूर्पणखाया नासिकाछेदनानन्तरं दण्डकारण्य एव दूषणेनापरेण भ्रात्रा सहितः श्रीरामचन्द्रेण सह योद्धुं समायात् । तस्य खरस्य बलं वीर्यं सैन्यञ्चापि दलत्यसौ खरबलदलः, खरबलपूर्वकात् "दल विशरणे" इत्यस्माद्भौवादिकाद्धातोः पचादिलक्षणोऽच्प्रत्ययः । स खरबलदल एव खलबलदलः श्रीरामचन्द्रो, रलयोरैक्यान्न भेदः । तेन खलबलदलेन नः सनाथोऽसौ खलबलदलनः, "नो नरे च सनाथे च, अनाथेऽपि प्रदृश्यते" इत्येकाक्षरकोषः, "नाथः कुलपरम्परागतस्वामिनि" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, तेन नाथेन सह इति सनाथः, "सहस्य सः संज्ञायाम्" इत्यनेन सह इत्यस्य स्थाने सादेशः । अनेन विशेषणेन श्रीरामचन्द्रवंशे क्षत्रियवंशेऽस्य महासत्वस्य जन्माभूदिति प्रस्फुटितोऽयमर्थः, तादृगुच्चकुलोद्भूतस्यैवैतादृक्षगुणवृन्दस्य सद्भावादेवौचित्यप्रतीतिः, एतच्चैतज्जीवनचरित्रे सहकारित्वेन

सुतरामुद्भावनीयमिति शम् । पूर्ववन्निखिलानि विशेषणा-
नि सन्नीय यथायथमन्वयो विधेयः ।।

भावार्थ—दण्डकवनमें शूर्पणखा (सरूपनखा) के नाक तथा कान काटने के पीछे उस के भाई खर और दूषण नामक राक्षस अपनी फौज लश्कर सहित श्री रामचन्द्र जी के हाथ से मारे गये थे। इसी लिये उस खर के बल को कुचलने वाले श्री रामचन्द्र जी के कुल में अर्थात् क्षत्रिय वंश में जन्म पाये हुये (ऐसे उच्च कुल में उत्पन्न हुवा हुवा पुरुष ही इतनी उच्च कोटि का हो सकता है) विजयी राक्षसीय भावों पर भी विजय पाने वाले श्री विजयानन्द विजय प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ।।४०।।

अथैकचत्वारिंशोऽर्थः

दायादयात्री जीयात्—

दयानां समूहो दायम्, क्वचित्तु जीवेषु दया (जीवदया) क्वचिच्च भूतदया (भूतेषु दया) क्वचनापि चारित्र्यदयेत्य-नेन प्रकारेण दयानामप्यनेकविधत्वमेवाऽस्ति, तासां सर्वासामेव समूहो दायशब्देनावगन्तव्यः, "तस्य समूहः" इत्यनेनाण्प्रत्ययः । तद् दायम् अदन्तीति दायादः (निर्द-याः), "अदोऽनन्ते" इति विट्प्रत्ययः, तेषां दायादाम् अयो गतिरुत्तरोत्तरं वृद्धिरसौ दायदयः । दायात्पूर्वकात् "इण् गतौ" इत्यस्माद् भावार्थकोऽच्प्रत्ययः, तं दायादयम्

आ समन्तात् त्रोटयंति ते दायादयात्राः, दयाभावनाशकानां मध्ये तादृशानां गतेः—उत्तरोत्तरवृद्धेर्निरोधकरा उपदेशाः (तादृशा भावाः) दायादयात्रा, आङ्पूर्वकात् "त्रुट् छेदने" इति तौदादिकाण्णिजन्ताद् "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डः प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः। ते सन्ति यस्याऽसौ दायादयात्री, कलौ दयाभावं निगिलन्तो नराः प्रतिदिनमुत्तरोत्तरं वर्धन्ते स्म। तद् दृष्ट्वानेनाहिंसाव्रतस्योपदेशकराणि व्याख्यानानि दातुं समारब्धानि, तैश्च सा प्रगतिस्तत्रैव न्यरोधि, तत एवोच्यते दायादयात्रीति। ततश्चान्यान्यपि विशेषणानि सन्नियोज्यान्वयो विधेयः॥

भावार्थ—दया के भावों को समूलोच्छेद करनेवाले यवनादि निर्दयों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निर्दयता की गति को तोड़ने वाले, अर्थात् निर्दय मांसाहारियों के चित्तपर भी "अहिंसा परमो धर्मः" की छाप डाल कर हिंसाको रोकने वाले व्याख्यानों के दाता तथा विद्या के परम प्रेमी इत्यादि पूर्व विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें॥४१॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽर्थः

जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितः—

ऐः जिष्णुजिह्व! मतिनुतिगतिभिः सहितोऽपि भवान्पूजितः "जिष्णुर्ना वासवेऽर्जुने जित्वरे वाच्यवादिनि"

इति मेदिनी। जिष्णुरर्ज्जुनः, तस्य जिह्वेव जिह्वा यस्यासौ जिष्णुजिह्वः, तत्सम्बुद्धौ हे जिष्णुजिह्व !, ऐरिति सम्बोधनार्थकमक्षरम्, तत एव ऐःजिष्णुजिह्व इति सिद्धम्, अर्जुनस्य जिह्वा यथा सकृदेव जल्पति स्म, यदेव जल्पति तदेवाऽर्जुनः सम्पादयति, स्ववाचा पदमात्रमप्यर्जुनो न विचलति। तथैव भवानपि यदेव वाचा प्रतिपादयति, तस्मात् पदमपि न विचलति, प्रत्युतः कार्यस्वरूप एव तद्विपरिणमतीति भावः ॥

मतिश्च नुतिश्च गतिश्चेति मतिनुतिगतयः, ताभिर्मतिनुतिगतिभिः (सहितोऽपीति शेषः) भवान् पूजित, पवित्रतया कर्त्तृभूतया जितः, पवनं पूः "पूङ् पवने" इत्यतो भावे क्विप्, पूः पवित्रा शुद्धिः, सा च कायवाङ्मनोजा। तया जितो वशीकृतो जगज्जित्वरोऽपि कायवाङ्मनःसत्यताभिस्तु जित एव, सत्यव्यवहारवशीभूत इति भावः। इह हि निन्दागर्भितैः शब्दैर्निन्दायामपि स्तुतिरेव सूच्यते नास्त्यत्र रोषदोषहेतुः, एवं जितोऽपि भवान् अवशिष्टविशेषणैर्विशिष्टो जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—ऐ अर्जुन के सदृश जिह्वा से निकले हुये अपने शब्द मात्र को भी प्राण पण से निभाने वाले श्री विजयानन्द सूरिजी महाराज ! यद्यपि उत्तम गति से युक्त आप सारे भावों के

जेता हैं, तथापि पवित्रता (अन्तःकरण की शुद्धि) तथा सत्यता ने आप पर विजय पाई हुई है, अर्थात् आप सत्यता और पवित्रता के वशीभूत होकर इससे एक इञ्च भर भी बाहिर न जाने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त आप जीते रहें ॥४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽर्थः

जेतृजेता जीयात—

जेतॄणाञ्जेतृषु वा जेता (परतरो जेतेत्यर्थः) "जि अभिभवे" इत्यस्मात्तृच्, अभिभवश्च न्यूनीकरणम् न्यूनीभवनं च इति दीक्षितः। तस्मादत्र जेतृशब्दस्य न्यूनीभवनमेवार्थः, सा च नम्रता एव ज्ञेया, सज्जनेषु विद्वत्सु च तस्या एव सद्भावात् प्रशंसार्हत्वं सर्वसम्मतं भवतीति हेतोः। तथा चोक्तम्—

"भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः।
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः॥
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः।
स्वभाव एवैषः परोपकारिणाम्॥"

अन्यच्चापि—

"नमन्ति फलिता वृक्षा, नमन्ति सज्जनाः सदा।
शुष्ककाष्ठैश्च मूर्खैश्च भिद्यते न च नम्यते॥"

एतेन विशेषणेनास्यऽहङ्कारोद्धततादयो दोषा निरस्ताः, अभिजनत्वादिकञ्च स्पष्टतया प्रतिपादितं भवति। ततश्चाऽवशिष्टविशेषणानि यथापूर्वं संयोज्य जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—हे निरभिमानियों में सबसे बढ़कर निरभिमानी, अहङ्कार और उद्धता (अक्खड़पन) से रहित तथा इसी प्रकार के अभिजनों (परिवार) से युक्त, नम्रता के सञ्चार करने वाले, तथा देश देशान्तरों में क्षमा खड्ग से विजय प्राप्त करने वाले, विलक्षण लीला वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें ॥४३॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो दिग्जेता—

स—आर-दारक्तिरक्तः, उ-दिग्-ज-इ-ता इति छेदः। स [यः पूर्वोक्तविशेषणैर्जुष्टः] दारक्तिरक्तः, दे दाने आ समन्ताद्रक्तिरनुरागो दारक्तिः, तया रक्ता दारक्तिरक्ता दानशीला धनाढ्याः। उः शिवः, तस्य दिग् उदीची तस्याञ्जो मेरुः (स्वर्णगिरिः) असावुदिग्जः' "जः पुमान् विजये मेरौ" इत्येकाक्षरकोषः। तस्य "ईः" (लक्ष्मीः) इत्युदिग्जेः, तामुदिग्जयम् मेरुश्रियं तस्यति उपक्षिणोति—उदिग्जेताः। दारक्तिरक्तैः सहकारिभिरुपलक्षितैरुदिग्जेता

असौ दारक्तिरक्तो दिग्जेता आर जगाम यत्र तत्रापि सर्वत्र। मेरुस्तु स्वयमेव स्वर्णशैलः, परं स्वर्णदानेन कस्यचिदप्यभिलाषान्न पूरयति। अयं महात्मा तु दानशीलैर्धनाढ्यैर्धनदापनेन दीनानां कामनाः पूरयित्वैव मेरुशोभां क्षिणोति। अतएवोक्तं केनापि—

"किन्तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणापि
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव॥
मन्यामहे मलयमेव यमाश्रितास्तु।
सर्वेऽपि निम्बकुटजा हरिचन्दनाः स्युः॥"

अत्रापि यथा कविना मेरुमहिमानमुद्दिश्य मलयमहिमैवोपवर्णितः, तथैव प्रकृतेऽपि। उदिग्जेपूर्वकात् "तसु उपक्षये" इति दैवादिकात्कर्तरि क्विप्, "अत्वसन्तस्य चाधातोः" इत्युपधादीर्घत्वम्। यद्वा "इण असिः" इत्यौणादिक आसिप्रत्ययः। बाहुलकाड्डित्वम्, डित्वाट्टिलोपः, जेतृ—इत्यश्परत्वाद् "भोभगोः" इत्यादिना विसर्गस्य यत्वे, लोपे च पूर्वपदान्तस्याकारस्योत्तरपादादिकेन इकारेण सह गुणसन्धिर्नित्यसमाससद्भावादिति बोध्यम्। स आर इत्यत्र "सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्" इत्यनेन सन्धिः, शसयोरैक्यात् शार इति निष्पन्नम्। शेषं यथापूर्वम्॥

भावार्थ—हे आचार्य जी महाराज ! दानशील धनियों के द्वारा दान दिलाकर दीन हीनों की दुर्गति को निवारण करके स्वर्णगिरि मेरु को भी मात करने वाले केवल आप ही हैं। अतः दीन हीनों के दुःख को मिटाने वाले, तथा पूर्व विशेषणों से युक्त आप विजय को प्राप्त करें ॥४४॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽर्थः

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

भम् चन्द्रमाः "नपुंसके भं नक्षत्रे गगने पुण्ड्चन्द्रयोः" इति । जननम्—जनः, भस्य चन्द्रस्य जनः प्रादुर्भावः [उदय इति यावत्] इति भजनः, भजन इव जनिर्यस्यासौ भजनजनिः, द्विजेषु भजनजनिरिति द्विजभजनजनिः, ब्राह्मणादिवर्णत्रयोऽपि चन्द्रोदय इवाह्लादजनक प्रादुरभूदित्यर्थः । यद्वा द्वयोर्जायते—इति द्विजाः, द्विजा चासौ भजनजनिरिति द्विजभजनजनिः । चन्द्रोदयस्तु एकस्मिन् पक्षे वृद्धिपरोऽन्यस्मिन् पक्षे ह्रासपरो भवति । चन्द्रोदयो वृद्धिपरस्त्वाह्लादजनकोऽसौ इतरश्च नैव । अस्य तूभयोरेव पक्षयोराह्लादप्रदैव जनिरिति विशेषार्थं सूचयति विशेषणमिदम् । ततश्च यथापूर्वं जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—द्विजकुल रूपी समुद्र से उत्पन्न हुये चन्द्रमा की तरह शान्ति और सुख देने वाले, परन्तु चन्द्रमा से विलक्षण

चरित्र वाले, चन्द्रमा तो एक पक्ष में घटता और एक पक्ष में बढ़ता है, परन्तु इनका चरित्र दिन पर दिन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। यही इसमें विलक्षणता है। और शास्त्रीय ज्ञान में रङ्गे हुये श्री विजयानन्द सूरि सर्वत्र तुम्हारी जय हो, शेष विशेषण पूर्ववत् ॥४५॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽर्थः

शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

शाराः—द्यूतोपकरणानि हस्तिदन्तादिभिर्निर्मितानि, (सारपासा—इति हिन्दीभाषायां प्रसिद्धानि) "शारोऽक्षो-पकरणम्" इति मेदिनी। तेषां शाराणां दो दमनम् (सर्वथा-परिमोचनमित्यर्थः) "दयायां दमने दीने दन्दशूकेऽपि दः स्मृतः" इत्येकाक्षरकोषः। तस्मिञ्छारदे आ—आभिमुख्येन रक्तिस्तयारक्तः, शारव्यवहारदमने तु विशिष्टाऽनुरागयुक्त इतिभावः, तन्मूलकत्वाद् द्यूतस्य। अस्य किल भारतवर्षस्या-वनतौ द्यूत एव मुख्यं कारणम्, तन्मूलैवभारतयुद्धप्रवृत्तिर-भूत। यदि पाण्डवा द्यूतव्यसनिनो नाभविष्यन्, तदा क-र्णादीनां धनुर्वेदपारगानां परस्परं सङ्घर्षेण विनाशो नाभवि-ष्यत्। ततश्च क्रूरवृत्ता यवना अपि भारते विशेषत आर्या-वर्ते नाऽऽगमिष्यन्, न चाप्यशोकादिभिरूरर्जस्वलैरूररीकृ-तोऽहिंसात्मको धर्मो रसातलमगमिष्यत्—इत्यादिकैः सार-

गर्भितैरुपदेशैः शारक्रीडादमनपरायणो धर्मोपदेष्टा जीयात्। शेषं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—सारपासों से खेलने वाले जूवे चौपड़ादि दुर्व्यसनों को दबाने वाले तथा उपदेशों से जूवे के कुव्यसन को मिटाने वाले तथा पूर्व विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि जी विजयी होवें। इस सारपासों के खेलने से ही इस भारतवर्ष की सारी शक्तियों का नाश हुआ है। पहिले राजा नल ने इसी खेल में राज्य हारा, और बारह वर्ष विपत्ति के काटे। इसके अनन्तर इस कथा को सुनकर भी युधिष्ठिर इस दुर्व्यसन से न बच सका, अन्त में राज्य को हार गया, जिससे परस्पर विरोध की ज्वाला भड़की, जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे वीर बलिदान हो गये। वीरों से शून्य भारतवर्ष पर विरुद्ध मतवालों के आक्रमण (हमले) हुये और सर्वनाश हो गया ॥४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽर्थः

योगाभोगानुगामी—

अत्र य—उ—ग—आभ इति छेदः। याः—यवनोपमाः (आचारहीना नीचा इति यावत्), तेषां यानाम् (यवनोपमानाम्) उः—भृशम् (भूयस्त्वेन) गः—गङ्गारूप इतियोगः, तेषामचारशिचया पवित्रीकरणात् शान्तिप्रदत्वाच्च। "यकारः पुँसि यवनोपमे दातरि मातरि" इति त्रिकांड-

शेषः । "उ अवधारणे अन्तिके भृशार्थे" इत्यभिधानराजेन्द्रः । "गो गौरी गौरवो गङ्गा" इतिशब्दकल्पद्रुमः । तेन योगेन आभा—उपमा यस्यासौ योगाभः, पुनश्च गः प्रभा प्रकाश इत्यर्थः । "गो गौरी गौरवो गङ्गा गणेशो गोकुलेश्वरः । सर्वसिद्धिः प्रभा" इत्यादिशब्दकल्पद्रुमोक्तत्वात् । तम् गम् (प्रकाशम्) अनुगमनशील इति गानुगामी, योगाभो गानुगामी योगाभोगानुगामी । यवनसदृशानां पापाचारिणामपि स्वच्छोपदेशैः तेषाम्मनोमालिन्यं गङ्गाजलेनेव निस्सार्य (प्रक्षाल्य) निर्मलताप्रदानशीलः । समये समये प्रकाशस्याऽनुरूपं [रोशनी के मुताबिक इति भाषायां] विहरणशीलश्चेति भावः । तथाभूतो जीयात् । अवशिष्टं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—जो लोग यवन अथवा मुसलमानों जैसे आचरण वाले अथवा आचार हीन भी आपको मिले उनके भी पापाचारों को तथा मलीन अन्तःकरणों को गङ्गाजल में स्नान किये हुवों की तरह स्वच्छ तथा कालुष्य रहित बनाकर सुधार करने वाले, तथा समय-समय के प्रकाश (रोशनी) के अनुकूल चलने वाले और उसी के अनुसार आचार व्यवहारों का संशोधन करने वाले, द्विजमात्र की सेवा करने वाले, क्षेत्र तथा देश विशेष की उदासीनता के विनाशी अथवा ज्ञानगङ्गा स्वरूप होकर जगत् को पवित्र करने वाले श्री विजयानन्द जी पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त विजय को प्राप्त होवें ॥४७॥

अथाष्टचत्वारिंशोऽर्थः

खलबलदलनो जीयात्—

खम् शून्यम्, तस्य रवः शब्दः खरवः शून्यवादः, स च वेदान्तवादः। वेदान्तिनः खलु ब्रह्मणोऽतिरिक्तं सर्वं जगच्छून्यमस्ति न किमपीति वदन्ति, सर्वस्य जगतोऽनित्यत्वात्, अत एव अद्वैतवादिनस्ते। परं नैयायिका जैनाश्चापि कतिचनान्येऽपि मतवादिनो द्वैतमेव साधयन्ति, परमाणूनां नित्यस्थितेर्दर्शनाद् द्वित्वं सर्वदैव तिष्ठतीत्यादिभिर्हेतुभिर्वेदान्तिनां मतं निराकुर्वन्ति। अतोऽस्य महात्मनोऽपि जैनमतानुयायित्वात् तन्निराकर्त्तृत्वमायातम्। अत एवाह—खरवस्य यो लः—वादः, "लः सुखे च वादे च" इत्यभिधानराजेन्द्रः, असौ खरवलः, तस्मिन् खरवले (शून्यवादशास्त्रार्थे) दलनः (शत्रुमतदमन इत्यर्थः) जीयात्। शेषं पूर्ववत्॥

भावार्थ—भली प्रकार बसते हुये विद्यमान संसार को भी शून्य बतलाने वाले दिल के अन्धे अतएव दिन के अन्धे अद्वैत-वादी वेदान्तियों को द्वैतवाद की संस्थापना से अथवा निराकरण (जवाब देने) से दबानेवाले, ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की नित्यता सिद्ध करने वाले, तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्दजी विजयी होवें॥ ४८॥

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

यो दाता, गाभः—गेन धरयाऽऽभा उपमा यस्यासौ गाभः "यकारः पुंसि यवनोपमे दातरि" इत्येकाक्षरकोषः, ज्ञानस्य दातेत्यर्थः। ज्ञानस्येति कुतो गम्यते—गानुगामीतिपदादेव, गं ज्ञानम्—अनुगच्छतीति गानुगामी, "गो गौरीत्यारभ्य भोगिनी नन्दनो धरा भोगवती च हृदयम् ज्ञानं जालन्धरो लवः" इत्यन्तं शब्दकल्पद्रुमे पठितत्वात्। लघुचेतसि दातरि दानादभिमानमुत्पद्यते, अयन्तु महासत्वः, दाता भूत्वापि धरा (पृथ्वी) सदृशः। यथा धरायान्नराः कदाचिन्मलादिकम् विसृजन्ति, कदाचिद्दण्डादिना प्रहरन्ति, परं तथापि पृथ्वी तु तदर्थमन्नजलादिकमुत्पाद्य तस्य ददात्येव, न च तस्य हानौ प्रयतते। एवमेवायमपि महात्माऽपकारिणामुपर्य्यपि दयामेव कुरुते, देयञ्च तेभ्यो ददात्येव। यथा चोक्तम्—

"उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः॥
अपकारिषु यः साधुः, स साधुः सद्भिरुच्यते" ॥१॥

एवञ्च यः—गाभः—गानुगामी—ईदृगवस्थातः "विसर्जनीस्य सः" इत्यनेन विसर्गस्य सः, ततः "ससजुषो

रुः" इति सस्य रुः, ततोऽपि "हशि च" इत्येनन रु-स्थान उः, ततश्च "आद्गुणः" इत्यनेनाकारोकारयो-रेक एव—ओकारो गुणः, उभयत्रेदमेव सन्धिकृत्यम् । ततश्च योगाभोगानुगामीति निष्पन्नं, पृथ्वीसमः शान्तः सर्वेषां भारसहनक्षमः । ज्ञानेन परापरं समीक्ष्य कार्याऽनुस-रणशीलो दाता धर्मोपदेशानाञ्जीयात् । शेषं यथापूर्वम् ॥

भावार्थ—जो श्री आत्माराम जी पृथ्वी के समान शान्तमय होकर पूर्वोक्त संस्थाओं के भार सहने में समर्थ हुये, तथा दूरदर्शी ज्ञान से परापर विचार कर काम करने वाले, तथा अपकारियों पर भी उपकार करने वाले, और जैनधर्म के अद्वितीय स्तम्भ होकर धारण करने वाले हैं, वह पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त चिरकाल तक जीवें ॥ ४६ ॥

अथ पञ्चाशत्तमोऽर्थः

दिग्जेता जीयात्—

अत्र दिग्—ज—ई—ता—इति छेदः । दिक्षु जः (जयो) येषान्ते दिग्जाः । "जः पुमान् विजये, मेरौ" इत्येकाक्षरकोषः । यद्वा दिशां जाः—जेतारो दिग्जाः, "जो मृत्युञ्जये, जन्मनि, पितरि, वेगे, जेतरि" इत्यभि-धानराजेन्द्रः । जेतार एव नृपत्वेन शासनं कुर्वन्तीति हेतो-र्दिग्जाः (दिक्पालाः), तेषां दिग्जानाम् (दिक्स्वामिनाम्)

ईम् मो[illegible]समत (त[illegible]र्वा) असौ दिग्जेता। आद्यपक्षे यकारान्तः शब्दः, द्वितीये नकारान्तः । दिग्जेपूर्वकात् "तायृ सन्तानपालनयोः" इत्यस्मात् "तनु विस्तारे" इत्यस्माद्वा कर्तरि क्विप् । सौ परे "लोपो व्योर्वलि" इत्यनेन यकारलोपे सति प्रकृतरूपस्य सिद्धिः । द्वितीयपक्षे नकारान्तो राजवत् । अस्य दिग्विजयसम्पत्तिं दृष्ट्वा दिक्पालास्तु अस्माभिस्तु दशभिर्दश दिश एकैकेनैकैकादिगतिकाठिन्येन जिताः, अत एवैकैकस्यां दिशि हि प्रभुत्वमस्माकम्, अनेनैकेनैव दशसु दिशासु स्वप्रभावः प्रसारितः । अत एकेनैवातिकठिनतमं कार्यं कथं प्रसाधितम्, कीदृक्कुतोऽयमेतादृशः पुरुषो वा देवो वाऽन्यः को वा भवेदित्यात्मकं मोहं प्राप्ताः । एतादृक्कार्यसम्पादकः पूर्वोक्तविशेषणैर्जुष्टो जीयादित्यन्वयः ॥

भावार्थ—जिसकी दिग्विजय को देखकर दशों दिशाओं के दश ही दिक्पाल तथा दिग्गज भी आश्चर्य में पड़ गये कि हमने तो एक २ ने एक २ दिशा पर ही अति कठिनता से ही विजय पाई और अपनी-अपनी दिशा के पालन में बहुत प्रयत्न करते हुये कठिनता से ही अपने-अपने शासन को धारण किये हुये हैं, परन्तु इन महात्मा जी ने बिना ही किसी विशेष सामग्री के दशों दिशाओं में अनायास ही विजय प्राप्त कर ली है, यह कार्य एक पुरुष से किया जाना कठिनतम ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है ।

ऐसे काय करने वाला यह कोई मनुष्य है या कोई देवता ? इस प्रकार दिक्पालों के चित्त में भी संशय तथा आश्चर्य को उत्पन्न करने वाले, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें ॥ ५० ॥

अथैकपञ्चाशत्तमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र य—उ—गाभः—ग—अनुगामीति छेदः । याः—शिष्याः, ऊः—वितर्कः, गः—ज्ञानमित्यर्थः । यानां शिष्याणाम् उ–वितर्केण (ऊहापोहरूपेण) गेन—ज्ञानेन चाऽऽभाति (शोभते) इति योगाभः, शिष्यगणकृतोहापोहप्रकाशितविज्ञानप्रतीतेरेव तस्य विद्वत्तायाः प्रतिरूपं प्रतिभासते, किम्पुनः साक्षात्कारेणेति भावः ॥

तत एव गानुगामी ज्ञानानुगामीति प्रसिद्धिमितः । अथवा "गः—विद्या" इतिशब्दकल्पद्रुमः । ततो विद्यानुगामीति प्रतीयते । यैर्महात्मनोऽस्य दर्शनं न कृतं भवेत्, तैरप्येतच्छिष्याणामूहापोहं दृष्ट्वैवैतस्य विद्यानुगामित्वमनुमीयत इति भावः । वंशशुद्धिस्तु सन्तत्याऽनुमीयते, गुरूणां गौरवञ्च शिष्यैरेवानुमीयते, इत्यनुमानसिद्धोऽयमर्थः । "यकारः पुंसि यवनोपमे, दातरि, मातरि, त्यागावयोः, शिष्ये विनये कल्पपादपे । या स्त्रियामनसूयायां शोभालक्ष्म्यां

च निर्मितौ, नपुंसके यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेत्" इत्येकाक्षरकोषः। तथाभूतो विशिष्टविशेषणैर्युक्तो जीयादिति ॥

भावार्थ—जिनके शिष्य प्रशिष्यों में से आजकल के समय में भी विद्यमान आचार्य श्री १००८ श्री विजय वल्लभ जी महाराज जैसे ऊहापोह तर्क वितर्क से परिपूर्ण हैं, इनसे उनकी विद्वत्ता, सत्यार्थता तथा कार्य-कुशलता आदि का अनुमान इसी प्रकार हो सकता है, जैसे सत्पुत्र से उसके कुल का अनुमान हो जाया करता है। अतएव अनुमान, ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि सभी सद्गुणों से युक्त श्री विजायन्द सूरि विजय को प्राप्त करें ॥५१॥

नोट—यहां तक श्लोक के बनाने वाले और इसके इकावन (५१) अर्थ करने का प्रयत्न श्री आत्मानन्द जैन महासभा के सञ्चालकों की भी इच्छा-पूर्णार्थ किया गया, अब जैसे सूचना पत्र के पीछे श्री १००८ श्री विजयानंद सूरि जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र दिया है, उसको भी इसी श्लोक से सिद्ध किया जायगा ॥

अथ द्वापञ्चाशत्तमोऽर्थः

अथास्य महात्मनः संक्षिप्तं जीवनचरित्रमप्यस्मादेव श्लोकाल्लभ्यते, पूर्वमस्य जन्मसम्वत्सरो लभ्यते ॥

द्विजभजनजनिर्जीयात—

पूर्वोक्तयाज्ञवल्क्यप्रमाणेन ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजा उच्यन्ते, ते च सङ्ख्यायां त्रय एव। अतो द्विजशब्देन

पूर्वं त्रित्वं लब्धम् । ततो भशब्देन भानि नक्षत्राणि तानि २७ सप्तविंशतिसङ्ख्याकानि । तेषां पूर्वोपलब्धाङ्केन भागदानेन ९ नवाङ्कलब्धिः, ततश्च जकाराक्षरं विस्तरेण गणनातः १७ सप्तदशसङ्ख्यात्मकम् । संख्यास्वरूपन्तु—अचो नव पञ्च कवर्गीयाः, चवर्गीयास्त्रयः, सर्वेषां योगेन १७ सप्तदशः । पुनरनयोः १+७ द्वयोरप्यक्षरयोः संयोजनेन ८ अष्टाङ्कलाभः, ततः न इत्यक्षरस्यार्थो गणेशः, स च संख्यायाम् एक एव, अत एवैकाङ्कलब्धिः । ततः "अङ्कानां वामतो गतिः" इतिज्योतिर्विदां सिद्धान्तेन वामाङ्काभिमुखगमनात् द्विजः ३ भ ९ ज ८ न १ इत्येषां वामगत्या गमनात् (वैपरीत्येन) १८९३ इति लब्धाङ्का जाताः । तत्र जनिर्जन्म यस्यासौ द्विजभजनजनिर्जीयात् ।

ननु विभागादयः कुतो लब्धा इति शङ्कनीयम्, तन्त्रावृत्त्येकशेषाणामन्यमतेनाऽपि कार्याणि सम्भवन्तीत्युक्तत्वात्, "सकृदुच्चरितः शब्दोऽनेकार्थपरो, यत्र तत्र तन्त्रेति व्यवहारः" पुनरुच्चारणमावृत्तिः, द्वयोर्बहूनां वा यत्रैकः शिष्यते तत्रैकशेषः । तदत्र तन्त्रेणैवायमर्थो बोद्धव्यः । यद्वा 'भजन' इतित्रयाणामक्षराणामावृत्तिरेकशेषो वा विधेयः । तद्यथा—भश्च भश्च भौ, जश्च जश्च जौ, नश्च नश्च नौ, भौ च, जौ च, नौ च ते भजनाः, द्विजाश्च भजनाश्चैतेषां समाहारो द्विजभजनम् । तत्रैकस्य

भस्यार्थस्तु भानि नक्षत्राणि, द्वितीयस्य भगः, भग एव भाग इत्यर्थः, "भः—भगे, गगने, पुण्ड्रचन्द्रयोः" इत्यभिधानराजेन्द्रोक्तत्वात्। भगस्तु घञर्थे कविधानेनैव बोध्यः। तत्र भानां भागेन योऽङ्को लभ्यते, स एव ग्राह्यः। अथ केन भागः प्रदीयत इत्याशङ्कायामुत्तरम् "सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्" इति न्यायेन सहचरितस्य द्विज शब्दांकस्यैव ग्रहणम् भवति। एवमेवैकस्य जकारस्यार्थश्चवर्गीयस्तृतीयो वर्णः, अपरस्य च विस्तारः, "जः—मृत्युञ्जये, पितरि, विस्तरे" इत्यभिधानराजेन्द्रप्रतिपादनात्। विस्तरश्च संयोजनादेव भवति, तयोरेकत्वसप्तत्वविशिष्टयोः संयोगादष्टाङ्कलाभः। तथैवैकस्य नकारस्यार्थो गणेशः, अपरस्य च नकारस्य नर इत्यर्थः। जनिरित्यनेन समासादष्टादशोत्तरत्रिणवतिपरिमिते वत्सरे नरस्य जनिरभूदित्यर्थः। यद्वा द्वितीयस्य नकारस्यापि गणेश एवार्थः। तत्र च १८९३ तमेऽब्दे नाद् गणेशाद् जनिर्यस्येत्यर्थो बोध्यः। गणेशश्चास्य पितुर्नामेति ध्वनितम्, "नः पुंसि वह्नौ, हेरम्बे" इत्येकाक्षरकोषः। हेरम्बो गणेशः "अप्येकदन्तहेरम्बलम्बोदरगजाननाः" इत्यमरसिंहाभिधानात्। एवम्भूतः सर्वविशेषणैर्विशिष्टो जीयादित्यर्थः। एतत्तु गुर्जरसम्वत्सराभिप्रायेण ज्ञेयम्। वैक्रमीयसम्वत्सरस्तु १८९४ आसीत्, तत्साधनप्रकारस्तु

निम्नलेखानुसारम् । द्वे: द्विसंख्यासूचकाङ्कस्य जः विस्तारः, गुणनं कार्यमिति केनेत्याकांक्षायां तेनैव द्वित्वेनेति बोध्यम्, अन्यस्य कस्याप्यनुपस्थितत्वात् । तेन च द्वित्वे, द्वित्वेन गुणिते चत्वारो भवन्ति । अतश्चतुष्टयत्वम् लब्धम् । भानि सप्तविंशतिः, द्विजशब्दलब्धाङ्केन चतुःसङ्ख्यात्मकेन विभागे कृते लब्धाङ्काः षट्, शिष्टाङ्कास्त्रयो, द्वयोर्योगेन पुनरपि नवाङ्कलाभः । अवशिष्टं पूर्ववत्, १८९४ परिमितसंख्याङ्कसमुत्पत्तिरिति बोध्यम् ॥

भावार्थ—बावनवें अर्थ में इन महात्मा का जन्म का संवत् बताया जाता है, उसको सिद्ध करने वाला "द्विजभजनजनिः" पद है, इसका विशेष आनन्द तो वही सज्जन उठा सकते हैं, जो संस्कृत पढ़े हुये हैं और संस्कृत समझते हैं; परन्तु भाषा में भी दिग्दर्शन कराया जाता है । गणित शास्त्र में अङ्क (हिन्दसे) उर्दू की तरह दाईं तरफ से बाईं तरफ को लिखे जाते हैं, इसी तरह यहां भी जानना चाहिये, द्विज तीन होते हैं । "भ" (नक्षत्र) २७ "ज" संख्या में १७ वाँ होता है, "न" गणेश का नाम है वह एक ही है । अब यहाँ पहिले अङ्क तीन को २७ पर विभक्त (तकसीम) करने से ९ लब्ध (हासिल) होते हैं, और १७ को आपस में जोड़ने से (१ + ७) आठ बन जाते हैं, "गणेश" स्वतः एक है, और "जनि" का अर्थ उत्पन्न होना । अब दाईं तरफ से बाईं तरफ को लिखने में तीन, नौ, आठ और एक के

१८६३ बन जाते हैं, जिससे १८६३ सम्वत् में इन महात्मा जी का जन्म होना सिद्ध हुआ, परन्तु यह सम्वत् कार्तिक से प्रारम्भ होने वाला गुजराती सम्वत् है। विक्रमी सम्वत् तो १८६४ था, यह अर्थ हमने संस्कृत के नियमानुसार भ–ज–न तीनों अक्षरों के दो-दो रूप मानकर किया है। जैसे एक "भ" का अर्थ २७ अङ्क, दूसरे "भ" का अर्थ भाग देना, एक "ज" का अर्थ १७ अङ्क और एक "ज" का अर्थ जोड़ना, एक "न" का अर्थ एक अङ्क और एक न का अर्थ गणेश। इससे हमारे महाराज के पिता का नाम भी निकलता है, दो-दो में से एक-एक रखने का और पूर्वोक्त अर्थ निकालने का प्रमाण संस्कृत में दिया है। इसी तरह आगे भी हिन्दी के अर्थ में कोई संशय हो, तो संस्कृत में देख लेना। अब विक्रमी ६४ वें अर्थ निकालने की रीति बताते हैं, इसमें सिर्फ "द्विज" शब्द के "द्वि" का अर्थ दो और "ज" का अर्थ गुणा (जरब) देना है, अर्थात् दो को दो से ज़रब देना। अब ज़रब किस के साथ दें, ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर कुछ और शब्द पास न होने से दो को दो से ही ज़रब देने से ४ आजायगा, बाकी नौ, आठ, एक बनाने की रीति हमने पहिले बता दी है, इससे १८६४ भी निकल आया, अर्थात् सम्वत् १८६४ में गणेशदत्त नामक पिता से इनकी उत्पत्ति हुई, इस प्रकार उत्पन्न होने वाले श्री विजयानन्द जी विजयी होवें, शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५२॥

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽर्थः

तस्मिन् सम्वत्सरे कदा जात इति प्रश्नस्योत्तरम्—

विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्तो जीयात्—

वयः पक्षिणो "विविष्किरपतत्रयः" इत्यमरः। वीनां पक्षिणां मधुकराणां (मधुमक्षिकाणाम्) मलं वान्तिरूपं माक्षिकम् यत्र लभ्यते स कालो विमलो वसन्त इत्यर्थः, तस्मिन् विमले यो मधुः—चैत्रो मासः स विमलमधु। तत्र विमलमधौ मदायाम्—तिथौ, मस्य हर्षस्य दा दात्री प्रापयित्र्यसौ मदा, तस्यां मदायाम्, चैत्रमासे हर्षप्रदा तिथिः सर्वाभ्योऽपि पूर्वं नूतनवर्षस्य प्रारम्भकत्वात्, नवरात्रारम्भकत्वाच्चाप्याद्या चैत्रशुक्लप्रतिपदेव आयाति, ततश्च वसन्ततौ चैत्रे मासे प्रतिपदि—इत्यन्तं लब्धम्। तत्राऽपि—उत्—ऊर्ध्वम् "उत्प्राबल्यवियोगोर्ध्वकर्मलाभप्रकाशने" इत्यभिधानात, दामरूपेणेव नैरन्तर्येणेति भावः, धामानि (तेजांसि) नक्षत्राणीति यावद् यतः प्रवर्त्तन्ते तदुद्दामधाम, अश्विनीनक्षत्रमितिभावः। "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः। तस्मिन् उद्दामधाम्नि (अश्विनी भे)। पुनश्च तन्त्राश्रयणेनावृत्यैकशेषस्य वाश्रयणात् "उद्दाम वरुणे देवे" इतिशब्दार्थचिंतामणिः। तस्योद्दाम्नो वरुणस्य धाम्नः स्वाम्यस्य वरुणस्वामिकस्य

नक्षत्रस्य शतभिषाऽभिधानस्य, प्रः कोऽर्थः सम्भवा, मत्—कांतिः प्रकाश इति यावत्, यस्मिन् राशौ लग्ने इति यावत्, कुम्भलग्ने इति भावः, शतभिषानक्षत्रस्य राशिः कुम्भ एव। तः प्राप्त इत्यर्थः। "धाम प्रभावे प्रभुत्वे स्वाम्ये" इति शब्दार्थचिंतामणिः।

"प्रादिकर्मणि दीर्घेश भृशसम्भवतृप्तिषु।
वियोगशुद्धिशक्तीच्छा शान्तिपूजाग्रदर्शने॥"

इत्यभिधानात् प्रशब्दस्य सम्भवार्थे प्रवृत्तिः, मदिति "मदी स्तुतिमोदमदस्वप्नगतिकान्तिषु" इत्यतः क्विप्, त इति "तु गतिवृद्धिहिंसार्थेषु" इत्यादादिकसौत्रधातो-रन्येष्वपिदृश्यत इत्यनेन उद्दामधामप्रमदितिसमुदित-पूर्वकाड्ः, डित्वाट्टेर्लोपः। चैत्रशुक्लपक्षे प्रतिपदि अश्विनीनक्षत्रे मेषस्थे चन्द्रमसि शतभिषाराशिके कुम्भ-लग्ने प्राप्त इत्यर्थः। अश्विनीनक्षत्रजातत्वाच्चन्द्रमसो मेषराशौ स्थितिस्त्वर्थापत्त्यैव लब्धा॥

भावार्थ—यहां प्रश्न होता है कि किस मास, पक्ष, तिथि नक्षत्रादि में इस पूर्वोक्त संवत्सर में उत्पन्न हुये, सो इसका उत्तर "विमलमधुमदोद्दामधामप्रमत्त" पद से मिलता है। 'वि' का अर्थ पक्षी (शहद की मक्खियां), वह मलरूप मधु को अधिकतया बनाती हैं, अर्थात् वसन्त ऋतु में खुशी करने वाली अर्थात् नये

वर्ष के प्रारम्भ होने से हर्ष उत्पन्न करने वाली तिथि चैत्र शुदि प्रतिपदा हुई, उसमें भी उद्दाम अर्थात् अनुक्रम से नक्षत्र प्रारम्भ होते हैं, जिससे ऐसा अश्विनी नक्षत्र आया, और अश्विनी नक्षत्र में मेष का चन्द्रमा स्वभाव से होता है, इस वास्ते मेष का चन्द्रमा सिद्ध हुआ । 'उद्दाम' का अर्थ 'वरुण' भी है, उसका धाम नक्षत्र शतभिषा होता है, और शतभिषा की राशि कुम्भ होती है, अतएव कुम्भ लग्न सिद्ध हुआ । इससे यह उत्तर मिला कि चैत्र शुदि प्रतिपदा अश्विनी नक्षत्र मेष के चन्द्रमा में कुम्भ लग्न में हमारे चरित्र नायक का शुभागमन हुआ । ऐसे महाराज श्री विजयानन्द जी सर्वदा विजयी होवें, शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५३॥

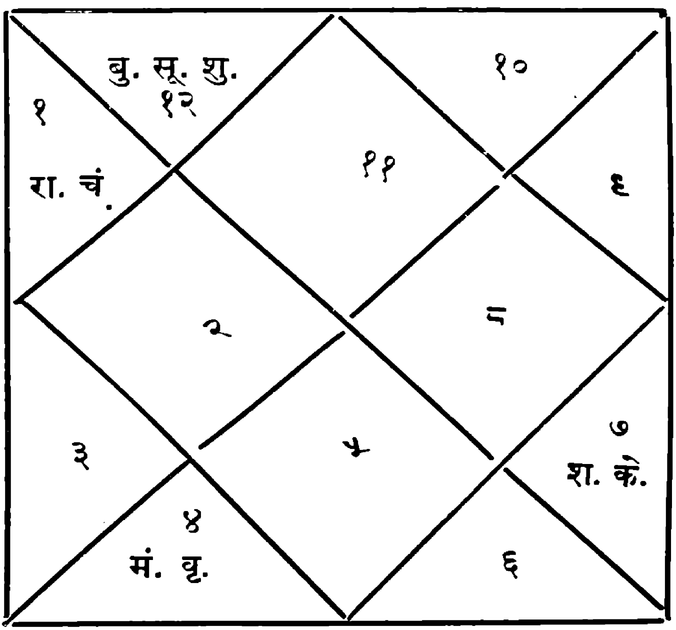

अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽर्थः

अथ च पञ्चाङ्गस्यैकाङ्गभूतत्वाद्योगवर्णनमप्यावश्यकमित्याकाङ्क्षयामुच्यते—

योगाभोगानुगामी जीयात्—

योगा विष्कुम्भादयोऽष्टाविंशतिसंख्याकाः, तेषामाभोगः परिपूर्त्तिः समाप्तिर्यत्र स योगाभोगः, स च वैधृतिर्नामयोगः। तस्मिन्नप्यनुगेऽनुक्रमेण गते (भुक्ते) अन्त्यघटिकास्वतिभावः। "अ—इत्यक्षरमनुकम्पायाम्" इति शब्दार्थचिंतामणिः, "मःमाने समये, सूर्ये, चंद्रे" इत्यभिधानराजेन्द्रः। तत्र वैधृतियोगान्त्यघटिकासु अस्य—अनुकम्पायाः (दयायाः) मः समयो यस्यासौ योगाभोगाऽनुगामी, विष्कुम्भादियोगेषु सर्वपश्चिमे वैधृतियोगेऽपि समाप्तप्राये धृतजन्मायं जीयादित्यन्वयः। योगस्य वैधृतिनाम्न एवायम्प्रभावो यदीदृशो धैर्यधारी महात्माऽयमिति भावः। चैत्रशुक्लप्रतिपदि प्रायेण रेवत्यश्विन्योरेकतरं नक्षत्रमवश्यमेव भवति, एवमेव वैधृतिविष्कुम्भयोरेकतरो योगोऽपि प्रायेण भवति। तदा तु निश्चितरूपेणाश्विनीनक्षत्रं वैधृतिश्च योग आसीदितिकविमनश्चिंतितोऽर्थः॥

भावार्थ—जन्मकुण्डली के पञ्चाङ्ग में एक अङ्ग योग भी है, उसको 'योगाभोगानुगामी' यह पद प्रगट करता है। 'योग' का अर्थ विष्कुम्भादियोग, इन का आभोग (पूर्ति) भोगा जाने पर अर्थात् अन्त की घड़ियों में आगमन हुआ। विष्कुम्भादिक २८ योगों की पूर्ति वैधृति योग पर होती है, इस लिये सिद्ध हुआ कि वैधृति योग की अन्तिम घड़ियों में इनका जन्म हुआ। यह इसी योग का प्रभाव है कि उनका चरित्र सर्वाङ्ग पूर्ण धीरता वीरता से भरा हुआ नज़र आ रहा है। ऐसे श्री विजयानन्द जी महाराज पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त सर्वदा विजयी होवें ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽर्थः

अथ मातुःपितुश्चापि नाम्नीत एव ज्ञायते—

योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र य—उ—ग—अ—भ इतिच्छेदः। यं रूपकं स्वार्थे कन्विधानेन रूपकमिति स्वरूपम्, तद्विरहे तु रूपमेव। "नपुंसकं यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेद्" इत्येकाक्षरकोषः, अभिधानराजेन्द्रश्चापि। उः—भूमिः, "उश्चंद्रभायाम्, गिरौ, भूमौ, विलोकने" इत्यभिधानराजेन्द्रः, "गः—गणेशः" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, अश्चन्द्रः "अःविष्णौ, शिवे, ब्रह्मणि, चन्द्रे, अग्नौ, भानावित्यादिषु" इत्येकाक्षरकोषोऽभिधानराजेन्द्रोऽपि,

भः पिता "भः पितृभ्रातृपितृव्येषु, भोऽतिभीते भ आकुले" इत्यप्येकाक्षरकोषः। तदित्थं यं रूपम् स्त्रीत्वविवक्षायां रूपा इति कल्प्यते, उः—भूमिः (जन्म इति शेषः), यद्वा भूमिशब्देनैव बीजवपनस्थानं मातैव लक्ष्यत इति। यश्च तद् उरिति योरिति निष्पन्नम्। गात्—गणेशात् अ (परत्र) अः—चन्द्र इति गाः, (गणेशचन्द्रः), गाश्चाऽसौ भ इति गाभः। तथा च यम् (रूपा) उः—भूमिः (जन्मभूमिः, मातेति यावत्) गाश्च भः पिता यस्य स योगाभः। ततश्च पुनरपि (गणेशचन्द्रः) तस्मात् गात्—गणेशचन्द्राद् अनु—आयामम् (दैर्घ्यम् महत्वमिति यावत्) गमनशील इत्यर्थः। "अनु—आयामे" इति शब्दार्थचिन्तामणिः, "आयामो दैर्घ्ये" इति शब्दकल्पद्रुमः। रूपानाम्न्यां मातरि गणेशचन्द्रात्पितुः पुत्रो गणेशचन्द्रात् (तदपेक्षयातीव) महत्वगामी वृद्धिं प्रति गमनकर्त्ताऽयं महात्मा जीयादित्यन्वयः तथा च विश्वकोषः।

"अनु हीने सहार्थे च पश्चात्सादृश्ययोरपि।
आयामे च समीपे च लक्षणादावनुक्रमे"॥

भावार्थ—"योगाभोगानुगामी" इस पद से अब इनके मातापिता का नाम प्रगट किया जाता है। इसके दो भाग किये गये हैं, एक 'योगाभः' दूसरा 'गानुगामी'। इनमें भी फिर य–उ–ग–अ, और भः ये अलग-अलग और ग–अनु–गामी ये अलग

अलग, 'य' का अर्थ रूपा 'उ' का अर्थ भूमि अर्थात् रूपादेवी इनकी जन्म-भूमि अर्थात् इनकी माता हुई और 'ग' का अर्थ गणेश, 'अ' का अर्थ चन्द्र और 'भ' का अर्थ पिता अर्थात् रूपादेवी नामक माता और गणेशचन्द्र नाम पिता से उत्पन्न हुये, परन्तु फिर ग–अ (गा) गणेशचन्द्र से अनु का अर्थ बहुत बड़ाई यानी तरक्की, गामी का अर्थ पाने वाले हुये। भावार्थ यह है कि रूपादेवी माता से और गणेशचन्द्र पिता से जन्म पाकर भी गणेशचन्द्र जी से अर्थात अपने पिता से बहुत बढ़कर उन्नति प्राप्त करने वाले हुये। धर्मशास्त्र ने ऐसा ही माना है कि पुत्र वही सुपुत्र है जो पिता से गुणों में बढ़कर हो। ऐसे सद्गुणों से युक्त श्री विजयानंद जी विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५५॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽर्थः

क्षत्रियवंशे जात इति तु पूर्वं खलबलदलन इत्यस्यार्थ-प्रकाशावसरे प्रकटितमेव चत्वारिंशेऽर्थे। परं क्षत्रियेष्वपि कस्मिन् भेदे जात इति प्रतिपाद्यते—

द्विजभजनजनिर्जीयात्—

भम्—चन्द्रः "नपुंसके भं नक्षत्रे, गगने, पुण्ड्-चन्द्रयोः" इत्येकाक्षरकोषात, भस्य जना लोका इति भजनाः, द्विजेषु भजना इति द्विजभजनाः, तेषु द्विजभजनेषु जनि-

र्जन्म यस्याऽसौ द्विजभजनजनिः। भम्—चन्द्रः, आयुर्वेदे (वैद्यकशास्त्रे) चन्द्रशब्देन कर्पूरो गृह्यते, तथा च वैद्यकशब्दसिन्धौ कर्पूरः सोमसंज्ञक इति, "चन्द्रः कर्पूरकाम्पिल्लसुधांशुस्वर्णवारिषु" इति मेदिन्यपि। तथार्थकरणात् क्षत्रियेष्वपि कर्पूरलोकेषु जात इति सुस्पष्टार्थः सम्पद्यते। कर्पूरशब्दस्यैवापभ्रंशः कपूर इत्येकवचनप्रयोगादेक एव एवंभूतो जीयात्, एकल एव पुत्र इति न निगूढम् ॥

भावार्थ—हमारे चारित्रनायक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुये यह भाव तो चालीसवें अर्थ में कथन कर चुके हैं। किन्तु क्षत्रियों में भी कौनसी जाति में जन्मे यह बात यहाँ 'द्विजभजनजनिः' पद द्वारा प्रगट की जाती है। 'भ' का अर्थ चन्द्रमा है, मेदिनी कोश के मत से जितने चन्द्रमा के नाम हैं, उतने वे सब कपूर के नाम हैं। जन का अर्थ मनुष्य लोग है, अर्थात् द्विजों में भी कपूर जाति क्षत्रिय लोगों में जन्म धारण किये हुये श्री विजयानन्द जी विजय प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५६॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽर्थः

तत्पालनपोषणं केन कृतमिति प्रश्नोत्तरे तु—

शारदारक्तिरक्तः—

"शारन्दौर्बल्यम" इति शब्दकल्पद्रुमः, "निर्नाथवनिता

च दा" इत्येकाक्षरकोशः। तथा च शारे दौर्बल्ये सति (पत्युरभावादेव दौर्बल्यञ्जातम्), दायाः विधवायाः(मातुः) आरक्त्या (प्रेमसर्वस्वतया) रक्तः परिभावितः। इत्यनेन स्वल्पावस्थायामेव पत्युर्विरहेण दौर्बल्यस्य (निर्धनतायाः) प्राप्तिः, तत्र निर्नाथया मात्रैव पालित इत्यर्थो निष्पन्नः। ततश्चापि शारदारक्तिरक्तो विद्याधिष्ठात्रीदेव्या अनुरागेण रक्तः, मातुरुपदेशादेव विद्या पठितुमारब्धा इति भावः॥

भारतीया विशेषतया संस्कृतज्ञा एव सरस्वतीं विद्याधिदेवतां मन्यन्ते, अतः शारदाशब्दग्रहणाद्भारतीयाया एव [हिन्दीभाषायाः] अध्ययनमारब्धमिति फलितोऽर्थः। तादृशो जीयात्॥

भावार्थ—इन महात्मा का पालन-पोषण कैसे हुआ यह "शारदारक्तिरक्तः" पद प्रगट करता है। 'शार' का अर्थ दुर्बलता, 'दा' का अर्थ पतिरहित स्त्री, 'आरक्ति' का अर्थ गहरा प्रेम, रक्त का अर्थ रंगा हुआ। भावार्थ यह है कि पति के न रहने से दुर्बलता (निर्धनतायुक्त माता) अर्थात् पति से रहित विधवा माता के प्रेमरूपी सर्वस्व से रंगे हुये अर्थात् परिभावित हुये हुए माता के उपदेश से ही विद्या पढ़ने के लिये प्रवृत्त हुए श्री विजयानन्द सूरि विजय को प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत्॥५७॥

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽर्थः

ततश्च दीक्षाकालो ध्वन्यते—

खलबलदलनः—

खम्—शून्यम् (०), ल इन्द्रः (१), स एव स्वर्गाधिपतिः, वः—वातः स चोनपञ्चाशत्संख्याको मरुताङ्गणः, तत्र पूर्वाङ्कद्वयेन भागे कृते ४९÷१० $\frac{४९}{१०}$—९ अवशिष्यन्ते, ततो नवाङ्कलब्धिः, अथवा वर्णगणनक्रमेण वकार ऊनचत्वरिंशो भवति, तत्रापि भागान्नवैव शिष्यन्ते, ततोऽपि नवाङ्कलब्धिरेव, ततश्च पुनर्लः—इन्द्रः, स चाप्येकः, "अङ्कानां वामतो गतिः" इत्याश्रयणात् १९१० इत्यायातम् । तत्र खलबले दलः—दं दीप्तिं प्रकाशं बोधं वा लाति—आददात्यसौ दलः, तथा चैकाक्षरकोषः—

"दो दाने पूजने क्षीणे दानशौण्डे च पालके ।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे दोर्भुजे दीर्घदेशके ॥
दयायां दमने दीने दन्दशूकेऽपि दः स्मृतः ।
बद्धे च बन्धने बोधे बाले बीजे बलोदिते ॥"

दपूर्वकात् "ला आदाने" इत्यतः "आतोऽनुपसर्गे कः" इत्यनेन कप्रत्ययः, "आतो लोप इटि च" इत्याकारलोपेन दल इति सिद्धः । ततश्च खलबलपदेन सह

समासे कृते खलबलदल इति जातः । ततश्च खलबल-दलश्चासौ नः सनाथ इति खलबलदलनः, "नो नरे च सनाथे च" इत्येकाक्षरकोषः । इत्यतः १६१० ऊनविंशत्युत्तरदशकेऽब्दे बोधग्राही (दीक्षाग्राही) सनाथः (नाथेन गुरुणा सह) जात इति शेषः । एवम्भूतो जीयादित्यनेनान्वयः ॥

भावार्थ—अब इन महात्मा की दीक्षा के सम्वत् को "खल-बलनदलन" पद प्रगट करता है । 'ख' का अर्थ शून्य (०),'ल' का अथ इन्द्र स्वर्ग का राजा, वह एक ही है । इसलिये इसका अर्थ एक हुआ । 'व' का अर्थ वायु, वायु का गण ४६ है, इसमें दश का भाग देने से ६ बाकी बचते हैं । इससे शेष अङ्क ६ का लाभ हुआ अथवा मंगलाचरण रूप ओम् और ६ स्वर और पचीस वर्गियाक्षर और चार अन्तस्थ (य र ल व) वर्ण इस तरह जोड़ने से ३६ हुये । इसको भी दश का भाग देने से ६ बाकी बचते हैं । इस तरह भी शेष अङ्क का लाभ हुआ और फिर 'ल' का अर्थ वही इन्द्र एक (१) हुआ, तो इस क्रम से अंकों को दाईं तरफ से बाईं तरफ लिखने से १६१० बन गये । फिर 'द' का अर्थ प्रकाश अर्थात् बोध और 'ल' का अर्थ लेना है । भावार्थ यह हुआ कि १६१० में आपने बोध (दीक्षा) को ग्रहण किया । इस प्रकार दीक्षा को ग्रहण करने वाले श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें । शेष विशेषण पूर्ववत् ॥५८॥

अथैकोनषष्टितमोऽर्थः

सनाथतया किं कृतमित्याकाङ्क्षायामुत्तीर्यते—

शारदारक्तिरक्तो जीयात्—

शारदा वाग्देवी (सरस्वती) "माया नारायणी देवी शारदेत्यम्बिकेति च" इति तन्नामसु शब्दकल्पद्रुमपठनात् "लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्" इति तदभिप्रायेणैव पुष्पदन्तपाठाच्चापि शारदा सरस्वत्येव, तस्याः शारदाया इदं शास्त्रं शारदं सारस्वतचन्द्रिकादिरूपम्, तस्मिन्नासमन्तात् (सर्वभावपरित्यागेनैकाग्रचित्ततया) रक्तिः प्रेम, तया रक्तः परिप्लुतोऽभूदिति शेषः, सारस्वतचन्द्रिकादिपठनानुरागवान् सम्वृत्त इतिभावः। तदनुरागेणैव तत्र निष्णातोऽभूदितितत्त्वार्थः। पूर्वन्तेन सारस्वतचन्द्रिकेऽधीते, तत्सूत्राणां सरस्वत्युक्तत्वात्सारस्वतत्वम्। तौ च व्याकरणग्रन्थौ, ततः सर्वस्यापि विद्याविषयस्य व्याकरणमूलकत्वात् तदधीतः सकलोऽपि शास्त्रविषयः सारस्वत एव। स एव शारदशब्देनाभिधीयत इति तद्भावभावितो न्यायवेदान्तादिज्ञानसम्पन्नोऽभवदितिशेषस्तथाभूतो जीयात्॥

भावार्थ—फिर उन्होंने क्या किया इसका उत्तर "शारदा

रक्तिरक्तः" प्रगट करता है। शारदा, (सरस्वती), शारदा का कहा हुआ शास्त्र सारस्वत चन्द्रिका भी शारद नाम से ही कहा जा सकता है। उसमें 'आरक्ति' पूरा-पूरा सम्बन्ध अथवा लगाव, 'रक्त' का अर्थ पूरे लवलीन है। तात्पर्य यह कि सारस्वत और चन्द्रिका को इन्होंने पूरा प्रेम लगाकर पढ़ा। यह दोनों व्याकरण के ग्रंथ हैं। व्याकरण ही सारे शास्त्रों का सार है। इसलिये इन्होंने जो कुछ पढ़ा, वह सब ही शारद बन गया। अतः इनके पढ़े हुये सभी शास्त्र न्याय वेदान्त मीमांसादि शास्त्र सारस्वत कहलाने लगे। उसके प्रेम में लगे हुये पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त करें ॥५६॥

अथ षष्टितमोऽर्थः

दिग्जेता—

अत्र दिग्—जा—आ—ई—ता—इति छेदः। तत्र दिक्षु पूर्वदक्षिणपश्चिमासु, जा समुद्रवेला समुद्रतट-मितियावत्, आ आङ्मर्य्यादायाम्, ईम् गतिम् तायते—पालयतीतिदिग्जेता। जा समुद्रवेलेत्यभिधानराजेन्द्रः, "वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु" अत्र ईकारोऽपि धात्वन्तरम् प्रश्लिष्यत इतिदीक्षितः। तेन अयनम्, "ईः" इत्यत्र—ईधातोर्भावे क्विप्, ततश्च "तायृ सन्तानपालनयोः" इतिधातोः कर्त्तरि क्विप्, तस्मात्

समुद्रवेलां यावत् गतिमान्—पद्भ्यामेव गन्ता इत्यर्थः। एभिर्महात्मभिर्गुजरातकाठियावाड़मारवाड़मेवाड़मालवा-मध्यप्रान्तपाञ्चालप्रभृतिषु देशेषु पद्भ्यामेव प्रयाणं भ्रमणं कृतमितिनिष्पन्नम्। तच्च भारतवर्षमात्र एव, नान्यत्राऽम-रीकादौ यानमारूह्य गमनस्य तद्धर्मशास्त्रेषु निषिद्धत्वात्। अनेन च अमरीकाया आह्वाने समायातेऽपि तत्र यानं न कृतमितिबोधितम्, पद्भ्याम् तत्र गमनस्याशक्यत्वात्, यानमारूह्य गमनस्य निषेधाच्चेतिदिक्॥

भावार्थ—अब हम "दिग्जेता" पद से ही इन महात्मा को पादविहारी सिद्ध करते हैं। इसके दिग्–जा–आ–ई-ता ये पाँच टुकड़े हैं। 'दिग्' का अर्थ पूर्व पश्चिम दक्षिणादि दिशा, 'जा' का अर्थ समुद्र का किनारा, 'आ' का अर्थ मर्यादा, 'ई' का अर्थ चलना, 'ता' का अर्थ पालन करना, अर्थात् पूर्वादि सभी दिशाओं में समुद्र के किनारे तक अपने धर्म की मर्यादा में रहकर किसी भी सवारी बिना पाँवों से चलकर ही विहार की मर्यादा पालन करते रहे। गुजरात, काठियावाड़, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, मध्यप्रान्त और पाञ्चालादि देशों में भ्रमण करने वाले, भारतवर्ष मात्र में रहकर अपने धर्म का उपदेश करते हुए धर्म की मर्यादा पालने वाले श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त होवें। शेष विशेषण पूर्ववत्॥६०॥

नोट—इस वचन से यह भी सिद्ध हो गया कि अमरीका आदि देशों से बुलावा आने पर भी आप वहाँ नहीं गये। क्योंकि

बिना किसी सवारी के वहाँ जाना असम्भव था और किसी प्रकार की भी सवारी पर चढ़कर जाना इनके धर्म के विरुद्ध था। इसलिये वह अपने धर्म की मर्यादा ही पालन करते रहे और अपनी अनुपस्थिति की पूर्त्ति के लिये अपने प्रतिनिधि तरीके मि० वीरचन्द राघव जी गांधी बी० ए० को शिकागो (अमेरिका) में भेजकर सार्वभौमधर्मपरिषद् में जैनधर्म की प्रधानता, सिद्धान्त और अनेकान्तवाद का प्रचार करा कर अपनी दक्षता और दूरदर्शिता का खूब परिचय दिया ॥६०॥

अथैकषष्ठितमोऽर्थः

जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितो
योगाभोगानुगामी जीयात्—

मतिः—नुतिः—गतिः—भिः—इति छेदः। अत्र वर्णसामान्यान्निरुक्तिर्निरुक्तमतेन बोध्या। "मो मन्दिरे च माने च सूर्ये चन्द्रे शिवे विधौ" इत्येकाक्षरकोपः, "नु स्तुतौ वारिणि वितर्के च" इत्यभिधानराजेन्द्रः, गः सर्वगः [सर्वं गच्छति जानातीति ज्ञानार्थे गमने प्रयोगः], अतएव सर्वगः सर्वज्ञ इतियावत्। तदित्थम्—मानि मन्दि-राणि तनोति—विस्तारयत्यसौ मतिः, नुः वितर्कान् तक्षति ह्रासयत्यसौ नुतिः, गं सर्वज्ञं तन्त्रयते कुटुम्बयते स्वकी-यत्वेन स्वीकरोतीत्यर्थः—असौ गतिः, भातीति भिः—

भास्वरः । इत्यत्र सर्वत्र "सर्वधातुभ्य इन्" इत्यौणादिक इन, बाहुलकाड्डित्त्वम, डित्वाट्टिलोपः । तन्—तत्—तन्त्र—भा इतिचतुर्णामेव धातूनां तिः, तिः, तिः, भिरितिरूपचतुष्टयसिद्धिः । तदुक्तं—

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

अन्यच्चाप्युक्तम्—

"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङाञ्च,
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन"

उणादयो बहुलमितिसूत्रयता पाणिनिना ध्वनितम् । भाष्यकृताऽपि लृकारस्य पृथगुपदेशे कारणं निर्दिशता "लृफिडः—लृफिड्डः" इत्युदाहरता फिडफिड्डावौणादिकप्रत्ययावितिप्रतिपादयता च स्फुटतान्नीतम् । ततश्च मतिश्चासौ नुतिर्मतिनुतिः, मतिनुतिश्चासौ गतिर्मतिनुतिगतिः, स चासौ भिरिति मतिनुतिगतिभिः एवम्भूतः सन् जिष्णुजिह्वैः पूजितः सत्कृतः ॥

योगाभोगानुगामी, य—अग इति छेदः । अगः—सूर्यः "अगः स्यान्नगवत्तरौ, शैले, सरी सृपे, भानौ" इतिहैमः । यो भवान् अगाभः—अगस्य सूर्यस्य इव

आभा दीप्तिर्यस्याऽसावगाभः परमतेजस्वी, यकारपरस्थितविसर्गस्योत्वे कृते "आद्गुणः" इति गुणे च कृते "एङःपदान्तादति" इत्यगस्याद्याकारलोपेन योगाभ इतिरूपं। ततश्च गानुगामी, गो ज्ञानम्, "गो गौरीत्याद्यारभ्य भोगवती च हृदयं ज्ञानं जालन्धरो लव" इत्यन्तं शब्दकल्पद्रुमोक्तत्वात्, ज्ञानाऽनुगामीत्यर्थः। एतेनायं महात्मेतरेषां तर्कवितर्कान् निराकृत्य मन्दिराणि निर्माप्य ज्ञानदानद्वाराऽसङ्ख्यान् पूजकसामाजिकानकृतेति ध्वनितमिति नास्ति सन्देहावसरः। ततोऽन्यान्यपि विशेषणानि नियोज्य जीयादित्यनेनान्वयः॥

भावार्थ—"मतिनुतिगतिभिः पूजितो जिष्णुजिद्भैः योगाभोगानुगामी" से इनके कार्यों का वर्णन किया जाता है। म—मन्दिर, ति–विस्तार, नु–तर्क, 'ति' का अर्थ काटना या हटाना, 'ग' का अर्थ ज्ञान वाले सर्वज्ञ, 'ति' का अर्थ अपनाना, 'भि' का अर्थ चमकना, अर्थात् मन्दिरों को जहाँ-तहाँ बड़े-बड़े शहरों में बनवाकर और उनके विरोध में विरोधी दल को विरुद्ध तर्कों को (दलीलों को) काट कर और सर्वज्ञ महाराज को सेव्यत्वेन (पूज्यभाव से) अपनाकर चमकने वाले अर्थात् शोभा पानेवाले और विद्वानों से पूजे हुये, सूर्य के समान ज्ञानप्रकाश फैलाने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि विजय प्राप्त करें॥६१॥

अथ द्वाषष्ठितमोऽर्थः

ततश्चानेनानेकान् ग्रन्थान् रचयित्वा बहूपकृतमिति ध्वनिः—

शारदारक्तिरक्तः—

शसयोरैक्यादत्र सारदेति छेदः। सारो बलम् "सारो बले, स्थिरांशे च, मज्ज्ञि, पुंसि जले, धने, न्याये, क्लीबे त्रिपु वरे" इतिमेदिनी। दाः—दानम् "डुदाञ् दाने" इत्यस्मात् क्विप्, सारस्य दाः सारदाः (बलदानम्), स च विशेषेण ज्ञानित्वात् ज्ञानस्यैव बलं दातुं योग्यः, तदपि सर्वसाधारणम्प्रति ज्ञानबलं पुस्तकैरेवानायासेन दीयते, ततो बलदानार्थं ग्रन्थरचनमेव सारदाक्रिया, तस्यां रक्ति—लवलीनता, तया रक्तः—आभिमुख्येन स्वाभिमुख्येन रत इत्यर्थः। यद्वा सारस्तत्त्वम्, तस्य दा शोधनम् (निर्णयः) सारदा, इत्यस्य तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः, तस्य रक्त्या रक्तो लवलीन इत्यर्थ एव बोध्यः। तत्र—"दैप् शोधने" इत्यतः क्विप्, सोऽपि (तत्त्वनिर्णयोऽपि) ग्रन्थनिर्माणेनैव सुगमरीत्या सर्वसाधारणं प्रति सुप्रतिपाद्यः स्यादिति, अतएव तत्त्वनिर्णयनामक एव ग्रन्थो व्यरचीति। ततश्चान्यान्यपि पुस्तकानि तत्त्वप्रतिपादनार्थसाररूपेणैव रचितानि। तैरुपकारक रक्तिरक्तः स जीयादिति सम्बन्धः॥

भावार्थ—"शारदारक्तिरक्त" इस पद से यह सिद्ध करना है कि उन्होंने बहुत से ग्रंथ रचकर संसार का बहुत उपकार किया है। 'शार' का अर्थ बल या तत्त्व है, 'दा' का अर्थ देने वाला या शोधन (निर्णय) करने वाला, इन महात्माओं में ज्ञान की अधिकता होने से ज्ञानरूपी बल देना और तत्त्वार्थ अर्थात् असली अर्थ का निर्णय करना सिद्ध होता है, वह ग्रन्थ रचना से ही अच्छी तरह किया जा सकता है। इसीलिये उन्होंने "तत्वनिर्णयप्रासाद" नामक ग्रन्थ उदाहरण रूप से लिखा। जिसको देखकर यह अनुमान किया जाता है कि उन्होंने ऐसे और भी ग्रन्थ जगदुपकारार्थ लिखे हैं। इससे सिद्ध हुआ कि बहुत से तत्त्वनिर्णयप्रासादादि ग्रंथों की रचना करके जगत् का उपकार किया है। ऐसे श्री विजयानन्द सूरि जी विजय प्राप्त करें। शेष विशेषणपूर्ववत् ॥६२॥

अथ त्रिषष्टितमोऽर्थः

दायादयात्री जीयात—

दयानां समूहो दायम्, तम् दायम् आददते—स्वीकुर्वन्ति ते दायादा जैनाः, तेषु दायादेष्वेव यात्रयतीत्येवंशीलो दायादयात्री, जैनसम्प्रदाये विहरणशीलइत्यर्थः। यात्राशब्दात् "तत्करोति तदाचष्टे वा"—इत्यस्मिन्नर्थे नामधातुविषयके णिचि कृते ताच्छील्ये णिनिः। यद्वा "दः—दयायाम्" इत्येकाक्षरकोषः, तस्य दस्य—अयो

गतिः—दायः, पुनश्च दाः क्षीणाः, न दाः—अदा अक्षीणाः प्रबलाः, दाये अदाः—दायादाः, दयायां प्रबला इत्यर्थः । तेषु दायादेषु यां गतिं त्रायते (यात्रयति वा) इत्येवंशीलो दायादयात्री, दयाप्रधानेष्वेव यात्रया विहारीति भावः । जैनेष्वेव तद्गमनप्राधान्याज्जैनधर्मोद्धारकत्त्वमस्मिन् प्राशस्त्येन प्रतीयते, ततोऽयमपि जैन एवेति ध्वनिः । अतएवानेन जैनधर्मिषु बहूपकृतमिति सूपपादितम्, तदुपजीवित्वाद्गृहीततद्धर्मदीक्षाव्रतोऽयं जीयादित्यन्वयः ॥

भावार्थ—"दयादयात्री" इस पद से सिद्ध किया जाता है कि इन्होंने जैन धर्मावलम्बियों पर बहुत उपकार किये । दयामात्र एक धर्म को ही प्रधान धर्म मानकर उसे स्वीकार करने वाले अर्थात् जैनी लोगों में ही यात्रा करके विशेष रीति से धर्म की ओर झुकाकर और अपने धर्म के नियमों पर दृढ़ निश्चय वाले बनाकर जैनधर्म का उपकार करने वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त करें ॥६३॥

अथ चतुः षष्टितमोऽर्थः

खलबलदलनो जीयात्—

'खः—वितर्के, लः—वादे' इत्यभिधानराजेन्द्रः, वल् सम्वरणे धातुः। तदित्थम्—खेन वितर्केण लं वादं वलन्ते (संवृण्वते) ते खलवला, गोरण्डाः (अङ्गरेज़ाख्याः),

तेषामपि दलनः स्वतर्केणपरिमर्दनः । 'एतेन महात्मकृतग्रन्थावलोकनेन 'हर्नले साहेब' इत्युपाधि-धारिणा तद्धृदय एव प्रधर्षणाऽनुभवात् स्वग्रन्थे तत्प्रशं-साकरमपि ध्वनितम् । एवम्भूतो जीयात् ॥

भावार्थ—"खलबलदलन" इस पद से यह सिद्ध किया जाता है कि जैनधर्म में रहकर इन्होंने "हार्नले"* साहब जैसे अंग्रेजों के चित्त पर भी विशेष प्रभाव डाला। 'ख' का अर्थ वितर्क (दलील बाजी) 'ल' का अर्थ वाद (झगड़ा) 'वल' का अर्थ लपेटना अर्थात् दलीलबाजी से झगड़े में लपेटने वाले, ईसाई अंग्रेजादियों को भी दलने वाले, (अपने तर्क से नीचा दिखाने वाले) इससे इन महात्मा के लिखे हुये ग्रन्थों को देखते ही हार्नले साहब अपने दिल में हार मानने का अनुभव करके अपने ग्रन्थ में इनकी प्रशंसा करने लगे, इस प्रकार के प्रभावशाली तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द जी विजय को प्राप्त करें ॥६४॥

---

*यह चोटी के पाश्चात्य विद्वान् हुए हैं, इनका सम्पूर्ण नाम और पद नीचे दिया जाता है।

A. F. Rudolf Hoernle, Ph. D. Tubingen, Fellow of the Calcutta University, Honorary Philoligical Secretary to the Asiatic Society of Bengal.

अथ पञ्चषष्टितमोऽर्थः

जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितः—

जयन्तीति जिष्णवो जयशीलाः, तेऽपि गोरण्डा एव भारतजयेनैव तेषां राज्यस्थितेरवलोकनात्, तेषु जिष्णुषु ये जिह्वाः, जिह्वा इव कर्मकर्त्तरि व्याख्यातारस्ते जिष्णुजिह्वाः, तैर्जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिर्लक्षणलक्षि-

---

आपने जैनधर्म के एक नामी प्राकृत ग्रंथ "उपासकदशांग" का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८८८ में छपवाया। उसकी भूमिका में आपने लिखा है कि—"For some of this information I am indebted to Muni Maharaj Atmaram Ji Anand Vijay Ji, the well known and highly respected Sadhu of the Jain Community throughout India, and author of (among others) two very useful works in Hindi, the Jaina Tattwadarsha mentioned in note 276 and the Agyana Timira Bhaskara. My only regret is that I had not the advantage of his invaluable assistance from the very beginning of my work".

इस लेख का सारांश यह है कि किंचित् शास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में मैं मुनि महाराज श्री आत्माराम जी, आनन्दविजय जी का ऋणी हूँ। यह महात्मा हिन्दुस्तान भर की जैनप्रजा के प्रसिद्ध और परम पूज्य साधु हैं। इन्होंने हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना

ताभिस्तत्कृतग्रन्थादिनिरीक्षणेन लक्षितः पूजितः (प्रशस्तः), एतत्कृतग्रन्थानामनुशीलनेनैतस्य मत्या नुतिर्गतिश्चापि द्वेऽप्यनुमिते तैः । नुतिः प्रशस्ता गति-र्विज्ञानम्, ताभिर्युक्तमेनमपि ते प्रशंसितवन्त इति भावः । तथाभूतो जीयादित्यन्वयः ॥

भावार्थ—अमेरिका में दुनिया के सर्व धर्मों की सभा में भी इनकी बहुत प्रतिष्ठा और अच्छा मान किया गया, यह अर्थ "जिष्णुजिह्वैर्मतिनुतिगतिभिः पूजितः" इससे प्रगट किया जाता है। जिष्णु का अर्थ भारतवर्ष पर विद्यमान समय में विजय पाने वाले, अर्थात् उनमें भी जिह्वा से काम करने वाले, अर्थात् बड़े-बड़े विख्यानदाता, धर्म के नेता लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार धर्म की प्रशंसा में इन महात्मा जी की गति (पहुंच) को इनके किये हुए ग्रन्थों से देखकर इनकी विद्वत्ता का अनुमान

की है, जिनमें जैनतत्त्वादर्श और अज्ञानतिमिरभास्कर बहुत उपयोगी रचनायें हैं। खेद है कि मुझे ऐसे महात्मा की बहु-मूल्य सहायता का लाभ अपनी रचना से पूर्व नहीं मिला। इतना ही नहीं, इसी मि० हार्नेल ने १८९० में उपासकदशाङ्ग ग्रंथ संस्कृत टीकासहित छपवाया, उसके आदि में महामुनि श्री आत्माराम जी और उनके रचे शास्त्रों की प्रशंसा निम्न श्लोकों में की है:—

दुराग्रहध्वान्तविभेदभानो, हितोपदेशामृतसिंधुचित्त ।
सन्देहसन्दोहनिरासकारिन्, जिनोक्तधर्मस्यधुरंधरोऽसि ॥१॥

करके (पूजितः) प्रशंसा की है, ऐसी प्रशंसायुक्त श्री विजयानन्द जी विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६५॥

• अथ षट्षष्ठितमोऽर्थः

जेतृजेता जीयात्—

जयन्तीति जेतारः (श्रीवीरचन्द्रराघवजीगांधीप्रभृतयः), तैरुपकरणभूतैः (तद्द्वारा) जेता जयप्राप्तिशीलः, शिकागोसम्मेलने धर्मशृङ्खलया प्रतिबद्धत्वात् स्वयंगन्तुमशक्यत्वाच्छ्रीवीरचन्द्रद्वारा तत्प्रश्नोत्तराभिधानकपुस्तकप्रहिण्डनेन ख्यातिलाभात् श्रीवीरचन्द्रादीनामपि ख्यातिप्रसरणादस्यैव महात्मनो जयलाभः, अतो जेतृद्वारैव जेता—इत्यर्थोऽपि साधु घटते। मन्दिरादीनां निर्मापणं

अज्ञानतिमिरभास्करमज्ञाननिवृत्तये सहृदयानाम्।
आर्हततत्त्वादर्शं ग्रंथमपरमपि भवानकृत ॥२॥
आनन्दविजय श्रीमन्नात्माराम महामुने।
मदीयनिखिलप्रश्नव्याख्यातः शास्त्रपारग ॥३॥
कृतज्ञताचिन्हमिदं ग्रंथसंस्करणं कृतिन्।
यत्नसम्पादितं तुभ्यं श्रद्धयोत्सृज्यते मया ॥४॥

भावार्थ यह है कि हे दुराग्रह रूप अंधेरे को दूर करने में सूर्यसमान, हे हितोपदेश रूप अमृतसागर में चित्त-स्थापन करने वाले, हे सन्देह के समूहों को दूर करने वाले, आप जिनोक्त

सर्वज्ञमतप्रचारश्चैकषष्ठितमेऽर्थे सुस्पष्टतया ध्वनितम्। पुनरावर्त्तनप्रवादभिया तदत्रोपेक्ष्यते, एवंवृत्तः स जीयादित्यन्वयः ॥

भावार्थ—अब "जेतृजेता" इस पद से यह सिद्ध किया जावेगा कि शिकागो की धर्म-सम्मेलननामक सभा में उनके प्रश्नों का उत्तर श्री वीरचन्द्रनामक अपने एक श्रावक द्वारा भेजकर आपने सुयश प्राप्त किया। 'जेतृ' का अर्थ जीतने वाले श्री वीरचन्द्र राघवजी गान्धी सरीखे अपने सेवक द्वारा, 'जेता' का अर्थ पूर्वोक्त सर्व धर्म-सम्मेलन, उस में उनके प्रश्नों का उत्तर लिखकर भेजने से यश प्राप्त करने वाले श्री विजयानन्द सूरि जी विजय को प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६६॥

अष्टादश दूषणरहित सर्वज्ञप्रणीत धर्म के धुरंधर हैं ॥१॥

आपने सज्जन पुरुषों के अज्ञान की निवृत्ति के लिये अज्ञानतिमिरभास्कर और आर्हततत्त्वादर्श (जैन तत्त्वादर्श) आदि ग्रंथ रचे हैं ॥२॥

हे आनन्द विजय ! हे श्रीमान् ! हे आत्माराम ! हे महामुने ! हे मेरे सम्पूर्ण प्रश्नों के उत्तर देने वाले ! हे शास्त्रों के पारगामिन् ! हे पुण्यात्मन् ! आपने मेरे ऊपर जो उपकार किये हैं, उनके बदले में कृतज्ञता के चिन्हरूप यत्नपूर्वक सम्पादन की हुई इस पुस्तक को श्रद्धा से मैं आपको अर्पण करता हूँ ॥३। ४॥

अथ सप्तषष्टितमोऽर्थः

केदारौदास्यदारी जीयात्—

"कः कामः" इत्येकाक्षरकोषः, ईः प्रत्यक्षे (दर्शने), "ईः—विषादे दुःखभावनायाम् क्रोधे अनुकम्पायाम् प्रत्यक्षे" इत्यभिधानराजेन्द्रः। तस्य कस्य कामस्य ईम्—प्रत्यक्षम् (साक्षात्करणम्) दहति द्यति वाऽसौ केदः शिवः, तस्य केदस्य अरि शत्रुः सोऽपि काम एव, केपूर्वाद् "दह भस्मीकरणे" इत्यतः "दो खण्डने" इत्यस्माद्वा डःप्रत्ययः, डित्वाट्टेर्लोपः। "दः—देवे" इत्येकाक्षरकोषः, तस्मिन् केदारौ कामविषये तु दानाम्—देवानामप्यास्यं दृणाति दारयति वेत्येवंशीलः केदारौदास्यदारी, "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्, बाहुलकात्कृदन्तान्ते परेऽप्यलुगेव, कामे तु देवा अप्याश्चर्येण मुखं व्यादाय विस्मयन्त इति भावः। तदुक्तम्—

"कामः सर्वात्मना हेयो यदि त्यक्तुं न शक्यते।
मुमुक्षां प्रति कर्त्तव्यः सैव तस्य हि भेषजम्॥"

इत्युक्तत्वात् सदा सर्वथा सर्वकामनां परित्यज्य मोक्षकामोऽयमिति भावः॥

भावार्थ—बुद्धिमानों को केवल मोक्ष की कामना छोड़कर और सब प्रकार के इन्द्रियजन्य कामविषय छोड़देने चाहियें। ये महात्मा मोक्षकामी थे। इस बात को सिद्ध करने वाला "केदारौ-दास्यदारी" पद है। 'क' का अर्थ कामदेव और 'ई' का अर्थ दर्शन, 'द' का अर्थ फूकने वाला, 'अरि' का अर्थ शत्रु, फिर 'द' का अर्थ देवता, 'आस्य' का अर्थ मुख, 'दारी' का अर्थ खोलने वाला, अर्थात् कामदेव को दर्शनमात्र से फूक देने वाले, जो कामदेव शिवजी महाराज का शत्रु हुआ, उस कामदेव (मदन) के विषय में तो आश्चर्य के मारे देवता लोग भी मुँह फाड़ कर देखते रह जाते थे कि त्रिलोकविजयी मदन (कामदेव) का कैसा मुख भञ्जन किया। तद्विषयक सारी कामनाओं को छोड़कर केवल मोक्ष की कामना वाले श्री विजयानन्द सूरि विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६७॥

अथाष्टषष्टितमोऽर्थः

लोललीलस्वलज्जो जीयात्—

"लोला जिह्वा" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, लोलाया जिह्वाया लीलाः—विलासाः, "लीलां विदुः केलिविलासे-त्यादिकेषु" इतिविश्वः। ते च द्विविधाः, प्रथमा आस्वाद-विषयकाः, द्वितीयाश्च वचनविषयकाः, प्रथमास्तावत् कटुतिक्तकषायमधुराम्ललवणाद्या विविधा आस्वादाः समधिकमास्वदन्ते पुरुषाणाम्, द्वितीयाश्चापि वादविवाद-

योर्निग्रकोटयां निपातनाद् वादिनां चित्ताह्लादनाय गीतादीनां गानेनोपहासोक्तिषु तत्क्षणमेव प्रतिभाभास्वरैरुत्तरैः पठनपाठनादिषु चापि तत्सहायताप्रदानैरतीवानन्दप्रदाः, ते वाग्विलासा इत्याख्यायन्ते, सर्वास्ता लीलाया एव लीलाः कथ्यन्ते। तासु लोललीलासु स्वरन्ति—आक्षिपन्तीति स्वरन्तः, तान् स्वरतो जयतीति लोललीलस्वलज्जः। यदा साधवो निर्मर्यादा भूत्वा जिह्वाविलासवशगाः सन्तो लोकलोचनगोचरा भवन्ति, तदा लोकाः तेष्वाक्षेपान् कर्त्तुमारभन्ते। परमयं महात्मा तु यथालाभं भोजनादनस्वादपरोऽनुचितवाग्विलासाप्रयोगाच्च संयत एवासीदितिहेतोरेवाक्षेपकारिणामनवकाशप्रदानादेव तज्जेताऽभूदिति, अतिशक्तेः परिपन्थिनोऽपि नोत्सहन्त आक्रमणं विधातुम्। "स्वर्—आक्षेपे" इति चौरादिकाच्छत्रन्तात्परस्थितात् "जि जये" इत्यस्माड्डः प्रत्ययः, णिचोऽनित्यत्वान्नात्रप्रयोगः, रलयोरैक्याल्लप्रयोगः। ततोऽशिष्टविशेषणान्वयम्विधाय जीयादित्यनेन सन्धेयः॥

भावार्थ—इन महात्मा ने चंचल जिह्वा के वश में न पड़कर अधिक जिह्वा चलाने वाले निन्दक जनों को जिह्वा चलाने का अवकाश नहीं दिया और नाहीं अपने आप उसका अनुचित प्रयोग किया, इस बात को सिद्ध करने वाला पद "लोललीलस्वलज्जः" है। 'लोल' का अर्थ चंचल जिह्वा, 'लीला' का अर्थ आनन्द, 'स्वलज्जः'

का अर्थ कटाक्ष करने वालों को लज्जित करने वाला अर्थात् चंचल जिह्वा के दोनों प्रकार के आनन्द के विषय में कटाक्ष करने वालों को लज्जित करने वाले, कटाक्ष करने वालों को मौका ही नहीं मिलता था कि वह अंगुली उठा सकें, क्योंकि इनके व्यवहार को देखकर वह स्वयं ही लज्जित हो जाते थे। जिह्वा के दो प्रकार के आनन्द हैं, एक तो खट्टे, मीठे, चटपटे पदार्थ खा कर आनन्द लेना, और दूसरा अनुचित शब्दों को बोल कर किसी पर कटाक्ष करना वा हँसी-मखौलादि से दूसरे के चित्त पर चोट लगाना। परन्तु यह महात्मा इन दोनों विषयों पर विजय पाये हुए थे, अर्थात् समय पर जैसा भोजन प्राप्त होता, वैसा पा लेते और असह्य शब्दों से किसी के हृदय पर आघात भी न पहुँचाते थे। ऐसे गुणों से विशिष्ट श्री विजयानन्द सूरिवर विजयी होवें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥६८॥

अथैकोनसप्ततितमोऽर्थः

लोललीलस्वलज्जो जीयात—

"लोलाः—स्त्रियः" इतिशब्दार्थचिन्तामणिः, तासां लोलानां (स्त्रीणाम्) लीलाः—विलासाः (हावभावकटाक्षरूपाः) इतिलोललीलाः, लोललीला एव स्वम् धनं यासान्ता लोललीलस्वाः, लोललीलस्वाः लज्जन्ते यस्मात् स लोललीलस्वलज्जः। प्रायेण कामिन्यो हावभावकटाक्षरूपैरेव स्वसर्वस्वैर्लोकान् मोहयन्ति (मदयन्ति), स्ववशीकृत्य

नानाप्रकाराश्चेष्टाः कुर्वन्ति । तद्वशगो भूत्वा मनुष्योऽपि यद्यत्ताः कारयन्ति, तत्तत्सर्वं समाचरति । तदुक्तम्भोज-कालीदासीये—

"न किं दद्यान्न किं कुर्यात् स्त्रीभिः स प्रार्थितो नरः ।
गर्दभा यत्र हेषन्ते तत्र पर्वणि मुण्डनम्" ॥

अन्यच्चापि

"एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोः,
विश्वासयन्ति हि परं न च विश्वसन्ति ।
शीघ्रं प्रविश्य सरलं हृदयं नराणाम्,
किं किं न वामनयना हि समाचरन्ति ॥" इत्यादि

परं प्रकृते त्वस्य महात्मनः समक्षन्तासां स्त्रीणाम् ता लीलाः शृङ्गारसर्वस्वरूपा एव ताः स्त्रिय एव लज्जयन्ति, तत्रप्रयोगस्यासाफल्यदर्शनाद् वैयर्थ्यापत्तेः । यथा च भर्तृशतके शान्तरसवर्णने श्रीमता भर्त्रा निगदितम्—

"बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।

सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥"

अत्र तु समारूढयौवनानां परमोत्कृष्टनव्यस्त्रीणामपि कटाक्षादिप्रसारस्य साहस एव नोत्पद्यते, प्रत्युतः शृङ्गार-रसमुत्सृज्य शान्तवैराग्यरसयोः समुद्भवो लक्ष्यते। अनेनास्य महात्मनः प्रकाण्डशान्तरसमत्त्वं समुद्भाव्यत इति दिक् ॥

भावार्थ—इनके सामने बड़ी-बड़ी जगन्मोहिनी स्त्रियों को भी साहस न होता था कि उन पर अपना कोई स्त्रीचरित्र चला सकें। इस अर्थ को प्रगट करने वाला पद "लोललीलस्वलज्जः है। 'लोला' का अर्थ स्त्री और 'लीला' का अर्थ चरित्र, 'स्व' का अर्थ अपने आप, 'लज्जः' का अर्थ शर्मिन्दा होना, अर्थात् चपल-से-चपल स्त्रियों के चित्त में भी इनके तेज प्रताप के सामने कुदृष्टि करने का साहस ही नहीं होता था, प्रत्युत वह तो आप ही लज्जाभूषण-स्त्रीधर्म की मर्यादा में लज्जा के वश (आधीन) रहकर उनकी शरण में आकर सत्कर्म में प्रवृत्त हो जाती थीं। ऐसे सद्भाव वाले तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त श्री विजयानन्द विजयी होवें ॥६६॥

अथ सप्ततितमोऽर्थः

केदारौदास्यदारी जीयात्—

अत्र क, ई, द इति छेदः। क आत्मा, ई आनन्दः, दः—दीप्तः, प्रसिद्ध इति यावत्। केन—ईः आनन्दो यस्यासौ केः, केरित्येवं दः—दीप्तः (प्रसिद्धः) असौ केदः, अत्र 'आत्मानन्द' इतिनाम्ना प्रसिद्ध इति भावः। तत्सम्बुद्धौ हे केद! हे—आत्मानन्देति प्रसिद्धः "ककारो ब्रह्मणि, विष्णौ, कामदेवे, अग्नौ, वायौ, यमे, सूर्य्ये, आत्मनि" इत्यभिधानराजेन्द्रः। "ई रमा, मदिरामोहे, महानन्दे, शिरोभ्रमे, स्त्रीलिङ्गोऽयमुदात्तान्तो नातोऽस्माल्लोपनं सुप" इत्यप्यभिधानराजेन्द्रः, एकाक्षरकोषश्च। "दो दाने पूजने क्षीणे दानशौण्डे च पालके, देवे दीप्तौ दुराधर्षे" इत्येकाक्षरकोषः। औदास्यदारी, औदास्यम्—मनोमालिन्यम् (धर्मक्षतेर्दर्शनात्) दृणाति—दारयति वेत्येवंशील औदास्यदारी, "ताच्छील्ये णिनिः"। आर—प्राप्तोऽसि, "ऋ गतौ" इत्यस्य लिटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्। धर्मस्य क्षीणतया सर्वत्र प्रसृतोदासीनताया धर्मोपदेशसञ्चारेण निवारको भवानायातः, तादृशस्सन् भवान् जीयात् सर्वोत्कृष्टतमत्वेन वर्ततामिति भावः। अवशिष्टपदानि यथापूर्वं योज्यानि॥

भावार्थ—अब इन महात्मा का प्रसिद्ध नाम निकाला जायेगा, जिसको प्रकट करने वाला "केदारौदास्यदारी" पद है। 'क' का अर्थ आत्मा, 'ई' का अर्थ आनन्द, 'द' का अर्थ प्रकाश, अर्थात् आत्मा शब्द से परे आनन्द शब्द जोड़ने से जो शब्द (आत्म-आनंद) बनता है उस आत्मानंद नाम से आप प्रसिद्ध हुए। आनंद का ही अर्थ बताने वाला दूसरा शब्द आराम है, इसको आत्मा के साथ जोड़ने से आत्माराम बन जाता है, इसीलिये इनका नाम आत्माराम भी प्रसिद्ध हुआ। 'औदास्य' का अर्थ उदासी (चिन्ता) 'दारी' का अर्थ नष्ट करने वाला, अर्थात् आत्मानन्द अथवा आत्माराम जी इस नाम से प्रसिद्ध धर्मरक्षा की चिंता को दूर करने वाले उस समय में आये थे जिस समय में जैनधर्म का सूर्य जैनाभासों की कुयुक्तियों के घटाटोपों से आच्छादित हो रहा था, जैनधर्म के महत्व का प्रकाश निस्तेज हुआ जाता था। जैनधर्म की प्राधान्यता का प्रवाह बंद हुआ जाता था। जैनधर्म के अनेकान्तवाद का झंडा गिरा जाता था और खास कर पंजाब में असली जैनधर्म का मार्गप्रदर्शक कोई न था और मूर्तिपूजा का निषेध खूब ज़ोर से किया जाता था। जैसे गीता में लिखा है कि जब-जब पाप बढ़ता है और धर्म की हानि होती है, तब-तब मैं पापों को मिटाने के लिये और धर्म की रक्षा के लिये और पाप के नाश के लिये किसी उच्चात्मा वाले शरीर की रचना करके भेजता हूँ। ऐसे ही जैनधर्म की प्रभावना के लिये आये हुए अतुलबली श्री विजयानंद जी विजय को प्राप्त करें। शेष विशेषण पूर्ववत् ॥७०॥

अथैकसप्ततितमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

अत्र यः—अगा—भोगा—नुगा—मी—इति छेदः। यः सर्वत्र पूर्वाऽर्थेषु निर्दिष्टः प्रधानो नायकः 'श्री आत्मानन्दनामकः', अगः पर्वतः, कश्चिद् विशिष्टः पर्वतः, यत्र जैनाः साधवो महात्मानः सन्थाराकरणार्थमन्तसमये व्रजन्ति, तस्यागस्य आभोगः—विस्तरः, उच्चशिखरमितियावत्। तम् अगाभोगम् अनुक्रमेण गच्छन्ति तेऽगाभोगानुगाः, तेषामगाभोगानुगानाम् आ मर्यादायाम्, अन्तसमये इतियावत्, मः—मानम्, (सत्कारः) यस्यास्त्यसावगाभोगानुगामी । तत्र योऽगाभोगानुगामीति योगाभोगानुगामी, सर्वस्मिन्नायुषि धर्मोपदेशप्रचारेण यत्र तत्र धर्मस्थितिस्थापनानन्तरमन्तसमये तस्मिन् पर्वते गत्वा सन्थाराकरणाम् श्रेयस्करं मनुते स्म। अयं महात्मापि तथाभूतः स्वस्य सर्वकर्मसिद्धेरनन्तरञ्जीयात्, तादृशेष्वपि साधुषूच्चस्थानं लभतामिति भावः ॥

भावार्थ—यह महात्मा अन्त समय में किसी खास पर्वत वा तीर्थस्थान पर जहां जैनमतानुयायी महात्मा अन्त समय में सन्थारा करने के लिये जाना अच्छा समझते हैं, वहां पर ही सन्थारा करना चाहते थे, इस अर्थ का दिग्दर्शन "योगाभोगा-

नुगामी" पद सिद्ध करता है, । 'यः' का अर्थ जो, 'अग' का अर्थ पर्वत और 'आभोग' का अर्थ शिखर, 'अनु' का अर्थ पीछे, 'ग' का अर्थ जानेवाले, 'आ' का अर्थ मर्यादा के अन्दर, 'मी' का अर्थ सत्कार करनेवाले, अर्थात् धर्मप्रचार के अनन्तर जो महात्मा किसी पर्वत विशेष के शिखर पर जाने वालों की मर्यादा का सत्कार करने वाले हैं, ऐसे वह श्री विजयानन्द जी तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त विजयी होंवें ॥७१॥

अथ द्वासप्ततितमोऽर्थः

योगाभोगानुगामी जीयात्—

योगाः पूर्वोक्तैकसप्ततिष्वर्थेषु निर्दिष्टा अर्थविशेषाः, तेषामाभोगः परिपूर्णत्वम् , तम् अर्थसाफल्येनानुगच्छतीत्येवंशीलो योगाभोगानुगामी । अत्रैकसप्ततिमितेऽर्थसंग्रहे येऽर्था निर्दिष्टा, ते याथातथ्येनानुसरन्ति घटन्ते यस्मिन् महात्मनि सोऽयंमहात्मा अस्मच्चरित्रनायको जीयात् सर्वोत्कृष्टतमो भूयादित्यर्थः, इति शम् ॥

नेत्राङ्कनवचन्द्रेऽब्दे, माघशुक्लाष्टमीतिथौ ।
नीता पूर्तिमियंव्याख्या, वैजनाथेन धीमता ॥

भावार्थ—अब अन्तिम अर्थ भी इसी पद का लिखते हैं, 'योगा' का अर्थ पूर्वोक्त ७१ अर्थों में वर्णन किये हुये विशेष विशेष

अर्थों का सम्बन्ध है, 'आभोग' का अर्थ उन का पूरे २ घटना 'अनुगामी' का अर्थ अनुकूल चलना है, अर्थात् पूर्वोक्त सभी अर्थ पूरे २ योग से जिस महात्मा में घटते हैं एवं सही २ देखे जाते हैं वह महात्मा हमारे चरित्र नायक श्री विजयानन्द सूरि सर्वथा विजय को प्राप्त करें ॥ ७२ ॥